श्रीमते रामानन्दाय नमः

श्री मन्मानस सिद्धान्त

प्रथम भाग
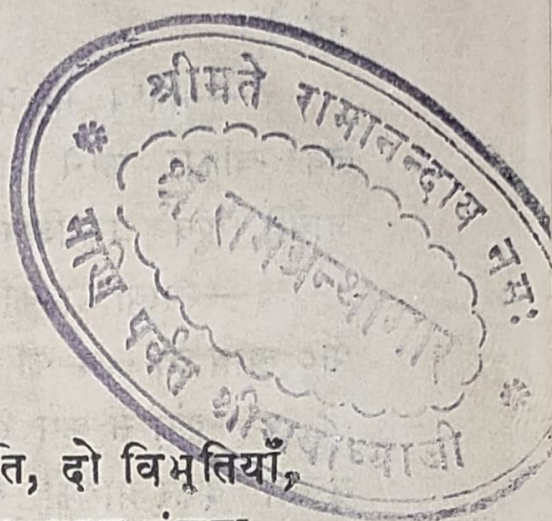
लेखक
श्रीराममन्त्रार्थ, मानसपूजन पद्धति, दो विभूतियाँ,
सखी-गीता, वेदों में रामकथा, मानसरत्न मंजूषा,
मानस—मनन, समाधन—रत्नावाली,
स्तोत्रमंजरी, सरल हवन-पद्धति और
श्री जानकी चरण चामर पर
सरला टीका आदि के प्रणेता—
मानस तत्वान्वेषी – पं० श्री राम कुमार दास जी
'रामायणी' वेदान्त, भूषण, साहित्य रत्न,
मणिपर्वत श्री अयोध्या जी

मानस प्रकाशन लिमिटेड,
रामवन (सतना)

प्रथम बार] [मूल्य २।।)

हमारी पुस्तकों के स्थायी ग्राहक

१—हमारी ओर से तुलसी साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था की गई है।

२—भविष्य में प्रकाशित होने वाली कुल पुस्तकों की एक प्रति लेना स्वीकार करने वाले सज्जन पुस्तकों के स्थायी ग्राहक माने जायँगे। पूर्व प्रकाशित पुस्तकों में से जितनी चाहें, वे ले सकेंगे।

३—स्थायी ग्राहकों को २) कम्पनी में जमा करना होगा। वी० पी० आवे तो खर्च की हानि पूर्ति इससे की जावेगी।

४—कम से कम १) की पुस्तकें या पुस्तक प्रकाशित होने पर सूचना देकर ग्राहकों की सेवा में वे वी० पी० द्वारा भेजी जाया करेंगी।

५—स्थायी ग्राहकों को कुल पुस्तकों पर २५ प्रतिशत कमीशन मिलेगा। एक से अधिक प्रति पुस्तकों की लेने पर भी यह कमीशन मिलेगा।

पुस्तकें मानस के पात्रों एवं प्रसगों पर विशेष प्रकाश डालने वाली होंगी। इनके द्वारा श्रेष्ठ तुलसी साहित्य का सृजन होगा। हमारी योजना ५०० पुस्तकें प्रकाशित करने की है। कृपया स्वयं स्थायी ग्राहक बनें तथा मित्रों को बनावें।

संचालक
मानस प्रकाशन लिमिटेड
पो०—रामवन (सतना)

———

आशुकवि श्री राघवदास जी श्री वैष्णव रामायण
व्यास एवं भक्तमाली की

दि० १८-११-५० ई०

शुभसम्मति

'श्री मन्मानस सिद्धान्त' नामक ग्रंथ मानस तत्त्वान्वेषी, वेदान्त भूषण, पं० श्री रामकुमार दास जी रामायणी, साहित्य रत्न, का रचा हुआ आज मुझे उपलब्ध हुआ। पढ़ कर अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त हुई। ग्रंथकार श्रुति, स्मृति, उपनिषद् संहिता, नारद पंचरात्र-पुराण तथा इतिहास आदि के अनेकानेक अकाट्य प्रमाणों को समक्ष रखकर, उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति की कसौटी पर खरे उतारते हुये 'श्री मानस' के सर्व प्रधान चरित्र नायक, मर्यादा पुरुषोत्तम, दूर्वादल घनश्याम, परम करुणा वरुणालय, अर्थ पंचक के प्रथम अर्थ प्राप्य ब्रह्मस्वरूप, भगवान, श्री राघवेन्द्र को निखिल ब्रह्माण्ड नायक, सर्व अवतारों में अवतारी परात्पर पूर्णतम ब्रह्म, इस ग्रंथ में दिखाया है। मानस में धुँधली आँखों से दिखाई देने वाले केवलाद्वैत आदि मतों का भी भ्रम निर्मूल कर, मानस तथा मानसकार के शुद्ध सिद्धांत विशिष्टाद्वैत का दिग्दर्शन कराते हुये निखिल सौन्दर्य रसामृत सारभूत, ऋषी महर्षि देवर्षि महापुरुष-चित्ताकर्षक, रघुकुल मंडन, दशरथ-नन्दन, श्रीराम के अनन्त दिव्य गुणों में से ४ दिव्य गुण तथा परम करुणामयी, जगत-जननी, जनकजा, महारानी श्री सीता के अनन्त दिव्य गुणों में से ६ दिव्य गुणों को प्रभु-पद--पंकजपराग लिप्सु भक्त-भ्रमर किस प्रकार अनुसंधान करके लाभ उठा सकते हैं, सप्रमाण यथा स्थान संकलन किया गया है। नव प्रतिभाशाली लेखक की वर्णन शैली तथा शुद्ध

हिन्दी भाषा के शब्द विन्यास की मधुरिमा-गरिमा तो, वर्तमान युग-भारत-भाषा-प्रेमियों के लिये परम पावन मयी सुधा सी स्वाद, तुष्टि, पुष्टि करने वाली है। यह ग्रंथ श्रीराम के उपासकों को तो परम प्रिय वस्तु है ही, किन्तु सिद्धान्त, साहित्य, भाषा तथा भाव आदि के दृष्टि कोण से अन्य विद्वान तथा जन समुदाय के लिये भी विशेष उपयोगी है।

छप्पय—मानस अर्थ अनूप भाव अविरुद्ध उचारत।
भ्रान्ति भूरि करि दूरि शुद्ध सिद्धान्त निकारत॥
'राघव' कला निधान लेख देखा 'मानस मणि।'
शुचि सुन्दर साहित्य रतन वेदान्त सिरोमणि॥
पंडित रामकुमार दास की, बैठि जीह पर भारती।
वादी वचन विदारि 'पारकर' कढ़ति करेजौ फारती।

—राघव दास श्री वैष्णव वृन्दावन

मानस-सिद्धान्त

'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥'

श्रीरामचरितमानस के प्रतिपाद्य परात्पर परमब्रह्म श्रीराम हैं, इसमें कभी किसी को कोई विप्रतिपत्ति हो ही नहीं सकती। मतभेद होता है सदा परात्पर तत्वके स्वरूप के विषय में। मानसकार ने इस विषय में बहुत स्पष्ट कहा है—

"राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर ।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कहा ॥"

श्रुतियों का परम प्रतिपाद्य जो अवाङ् मनसगोचर तत्व है, वही श्रीरामचरितमानस के सर्वस्व श्रीरामभद्र हैं, यह यहाँ भली भाँति बता दिया गया है।

सभी सम्प्रदाय श्रुति सम्मत पथका ही अनुसरण करते हैं और श्रुति-सिद्धान्त में सबके सिद्धान्त बीज हैं; किन्तु उस मूल सिद्धान्त को ग्रहण करने के दृष्टि कोण में साधन भेद, आराध्य-स्वरूप भेद एवं अधिकारी भेद से बहुत कुछ भेद हो जाता है और इसीसे एक ही शास्त्रीय सिद्धान्त सम्प्रदायों के विभिन्न रूपों

में प्रवाहित होता है। सीधे शब्दों में सम्प्रदायों को हम साधन धारा कह सकते हैं। लेकिन श्रीरामचरितमानस साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं है। उसमें किसी भी सम्प्रदाय विशेष का दृष्टिकोण शास्त्रीय सिद्धान्त के निर्वचन के लिये नहीं अपनाया गया है। उसके प्रणेता ने उसके विषय में – 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं' कहा है और वह है भी श्रुति, स्मृति, पुराण सम्मत शास्त्र। शास्त्रीय सिद्धान्त अपने मूल रूप में अपनी समस्त विशेषताओं के साथ ज्यों का त्यों श्रीरामचरितमानस में अवतरित हुआ है, यही मानस की विशेषता है।

जो सिद्धान्त भगवान कृष्ण द्वैपायन वेदव्यासजी ने अपने ब्रह्मसूत्र में संकलित किया है, जिसे श्री मद् भगवद्गीता में भगवान ने बताया है और जिसकी सम्यक् व्याख्या व्यासजी ने पुराणों में, विशेषत: पारमहंससंहिता श्रीमद्भागवत में की है, वही सिद्धान्त ज्यों का त्यों श्रीरामचरितमानस में मूर्त हुआ है। इसीलिये जिस प्रकार सभी सम्प्रदाय ब्रह्मसूत्र, गीता एवं श्रीमद्भागवत की व्याख्या अपने दृष्टि कोण से करते हैं, अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्त का उन्हें प्रतिपादक मानते हैं, वैसे ही श्रीरामचरितमानस की व्याख्या भी सभी साम्प्रदायिक दृष्टि कोणों से हो सकती है, होती है और वे सब व्याख्यायें उतनी ही संगत, उतनी ही समुचित हैं, जितनी गीता या ब्रह्मसूत्र की साम्प्रदायिक टीका।

सच्ची बात यह है कि मूलतत्व तो अवाङ्मनसगोचर है। श्रीरामका स्वरूप तो 'बचन अगोचर बुद्धिपर' है। जगत की सत्तावस्तुरूप न होकर भावरूप है। ये बातें सभी सम्प्रदायाचार्यों ने स्पष्ट घोषित की हैं। जो वस्तु वाणी में नहीं आती, उसे किसी प्रकार समझाने का प्रयत्न ही किया जा सकता है और ऐसे प्रयत्न की पूर्णता का प्रश्न उठना

ही नहीं चाहिये। सिद्धान्त जब वाणी में नहीं आता, तब उसके जिस रूप का प्रतिपादन होता है वह रूप होता है साधन के समर्थन के लिये। साधन को दृढ़भूमि देना ही उसका तात्पर्य है; क्योंकि साधन की पूर्णता में तो मन वाणी से परे का सम्यक सत्य स्वतः प्रत्यक्ष हो जाता है। वर्णन के प्रयत्न भेद एवं अधिकारी भेद से साधन भेद होने के कारण ही ये सिद्धान्त भेद प्रतीत होते हैं, अन्यथा सबका लक्ष्य, सबका निर्देश्य एक ही है।

साधन भेद में दो ही प्रधान भेद हैं-निर्वाण प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाले ज्ञान मार्ग के पथिक एवं सान्निध्य कांक्षी भावप्रवण आराधक। श्रीरामचरितमानस में दोनों के लिये साधन है, दोनों के लिये मार्ग दर्शन है, दोनों की साधन भूमि को स्थिर करने के लिये सिद्धान्त हैं और दोनों पथों एवं सिद्धान्तों में सामञ्जस्य है, ठीक वैसे ही, जैसे गीता में। जैसे श्री मद्भागवत में गीता के सिद्धान्त व्याख्यात हुये और तब भक्ति मणि का प्रकाश प्रदीप्त हो उठा वहाँ, वैसे ही सहज भाव से मानस में भक्ति का स्निग्ध प्रकाश परिव्याप्त है।

अध्यात्म पथ का प्रारम्भ ही उपासना से होता है। उसे आप योग के साधन का रूप दे दें या ज्योति के ध्यान का रूप दे दें। सुने हुये तत्व के मनन का रूप दे दें या अर्चन, पूजनादि का रूप दें। एक अनुभूति से परे तत्व में आस्था करके मन को वहाँ लगाने का प्रयत्न ही उपासना है और कोई भी साधक बिना आस्था के साधन कर कैसे सकता है। नाम चाहे जो दे लिया जाय, सभी साधकों को प्रथम भाव करना पड़ता है और भाव की उज्वल धारा ही तो भक्ति है। इस प्रकार सभी साधन भक्ति से प्रारम्भ होते हैं और साधन का पर्यवसान इसी प्रारम्भिक भाव के परिपाक में होता है। जिस आस्था को लेकर

साधक चला है, उसका मूर्त हो जाना ही साधन की पूर्णता है। दूसरे शब्दों में साधन रूप भाव या साधनोंपासना की परिणिति करके अपने भाव को मूर्त करना है उसे। यही भक्ति मार्ग है और तब सभी शास्त्र, 'आगमनिगमपुराण' भक्ति में पर्यवसित होते हों, इसमें आश्चर्य की तो कोई बात है नहीं। श्रीरामचरित-मानस में श्रुति सिद्धान्त ही ज्यों का त्यों व्यक्त हुआ है और इसीलिये मानस की साधन धारा आराधना के दिव्यमार्ग में ही समस्त साधन धाराओं को एक करती प्रवाहित होती है। उपासना भक्ति में ही समस्त साधनों का नित्य शास्त्र सम्मत सामञ्जस्य है और यही श्रीरामचरितमानस में भी पद पद पर व्यक्त हुआ है।

जितने भी उपासना मार्ग हैं, वे चल नहीं सकते यदि उनमें उपास्य; उपासना, उपासक की मान्यता न हो। यह जगत हमारे सम्मुख है। हम इसे चाहे सत्य कहें या असत्य, पर हमें इसी में व्यवहार करना पड़ता है। जीव अनन्त जन्मों से इसमें जन्म मृत्यु के चक्र में पड़ा कष्ट पारहा है। इस क्लेश से उसे छुटकारा चाहिये और इसीलिये सभी धर्मों एवं आध्यात्मिक मार्गों की प्रवृत्ति है। जगत के स्वरूप के विषय में ही बहुत से विवाद हैं, पर उन विवादों से जीव को कोई लाभ नहीं है। वे विवाद भी केवल शाब्दिक हैं। क्योंकि जगत की वस्तु रूप सत्ता तो कोई मानते नहीं। भावरूप सत्ता को सत्य कहिये या मिथ्या, बात एक ही है। मानसकार ने कहा—

'मोह निसा सब सोवनि हारा।
देखहिं सपन अनेक प्रकारा॥'

अब स्वप्न मिथ्या है या सत्य, इसके विवेचन का विवाद तो दार्शनिकों की सम्पत्ति है। स्वप्न देखने वाले के लिये वह

सत्य है और जागने वाले के लिये मिथ्या। अनन्त काल से जीव यह स्वप्न देख रहा है, अतः उसके लिये तो सत्य ही है यहाँ उसे तो जागृत होने का यत्न करना है।

'निरगुन ब्रह्म सगुन सोइ कैसे।
जल हिम उपल विलग नहिं जैसे॥'

परमतत्व तो एक ही है। अपनी अनन्त अचिन्त्य शक्ति से ही वह निर्गुण भी है और सगुण भी है। यह समस्त जगत उसी में है। इसकी भावरूप सत्ता उसी वस्तुरूप में है। उपासना के जितने मार्ग हैं, उन सभी ने अपने सिद्धान्त में किसी न किसी प्रकार इन बातों को अपनाया है। इन सिद्धान्तों में विशिष्ठा द्वैत सुस्पष्ट है। यहाँ तक कि शैव एवं शाक्त सम्प्रदाय भी विशिष्ठा द्वैत सिद्धान्त को नाम बदल कर एवं आराध्य के सगुण स्वरूप को अपने आराध्य रूप में मान कर स्वीकार करते हैं।

ब्रह्म, जीव एवं माया ये तीन तत्व हैं। दार्शनिक विवाद बस इतना रहता है कि इनमें से किसी एक या दो को तीसरे से नितान्त अभिन्न माना जाय या भिन्न। ब्रह्म नित्य सत्य है, यह तो सर्व मान्य है। जो निर्गुण निराकार को ही परम प्राप्य मानते हैं, वे निर्वाण के अभीप्सु बौद्ध हों, मुक्ति शिला की प्राप्ति के इच्छुक जैन हों या कैवल्य चिन्तक अद्वैत वादी हों, सगुण उनका विषय नहीं और जो जिसका विषय नहीं, वह उस विषय में जब कुछ कहता है तो स्वाभाविक है कि यह अनधिकार प्रयत्न अव्यवस्थित हो रहे।

जो भगवान के किसी भी सगुण स्वरूप को स्वीकार करते हैं, उन भक्ति महारानी के वरद कुमारों के लिये प्रभु के नित्य मंगलमय चिन्मय धाम, आनन्दघन स्वरूप एवं पार्षद परि

करादि की सत्ता सन्देह से परे है। अब रही सिद्धान्ततः द्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि दार्शनिक मतों की बात, सो उसे हम दार्शनिकों के लिये छोड़ दे सकते हैं। क्योंकि भगवान की अचिन्त्य योग माया शक्ति, जीव पर उन अनन्त करुणा वरुणा-लय का अनुग्रह तथा जीवका वर्तमान मायाबद्ध स्वरूप तो सभी को स्वीकृत ही है। अब जीव प्रभु से भिन्न है या अभिन्न, माया भिन्न है या अभिन्न, ये विवाद सामान्य जन के उपयोग के नहीं हैं। क्योंकि सभी जीव की इस बन्धन से निष्कृति मानते हैं आराधना-प्रपत्ति-शरणागति से और तब विशिष्ठाद्वैत का ब्रह्म, माया, जीव की परस्पर समन्वित किन्तु नित्य सत्ता मान लेना अधिक सुगम जान पड़ता है। वैसे हम पहिले कह आये हैं कि वस्तुतथ्य निर्वचन से परे है। सिद्धान्तों का तात्पर्य साधन को दृढ़ भूमि प्रदान करना है।

वेदान्तभूषण मानसतत्वान्वेषी श्री पण्डित रामकुमारदास जी रामायणी 'साहित्यरत्न' मेरे लिए सम्मान्य हैं। उनका बन्धुत्व मेरे गौरव की वस्तु है। श्रीरामचरितमानस के वे कितने पटु 'तत्वान्वेषी' हैं, यह बात उन सभी लोगों को ज्ञात है, जिन्हें एकबार भी श्री वेदान्तभूषण जी का मानस-प्रवचन सुनने का अवसर मिला है। यह 'मानस-सिद्धान्त' ग्रन्थ उनके श्रम एवं अन्वेषण की सफलता का प्रतीक है।

श्री वेदान्तभूषण जी रामानन्दीय श्री वैष्णव ठहरे और एक वैष्णव के लिए अपनी आराधना, अपने सिद्धान्त एवं अपने आराध्य में दृढ़ निष्ठा की प्राप्ति सदा ही श्लाघ्य है। यह आज पाश्चात्य शिक्षा की प्रभाव-विकृति का ही परिणाम है कि भारत का शिक्षित वर्ग सम्प्रदाय एवं साम्प्रदायिकता के नाम से वैसे ही भड़कने लगा है, जैसे भैंस लाल कपड़े से भड़कती है। नहीं तो—

"नहि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदाय पुरः सरा।"

यह अत्यन्त खेद से कहे गए देवर्षि नारद के वचन श्रीमद् भागवत माहात्म्य में हैं। श्रीरामचरितमानस तो शास्त्र है। भागवत, गीता, ब्रह्मसूत्र के समान ही सार्वभौम शास्त्र है वह। इसमें सभी सम्प्रदायों, सभी दर्शनों के दृष्टिकोण सामञ्जस्य पा जाते हैं; क्योंकि सभी का मूल लक्ष्य श्रुति प्रतिपादित परम सत्य है जो मानस में अविकल रूप में अवतरित हुआ है। श्री वेदान्तभूषण जी ने अपनी निष्ठा के अनुरूप विशिष्टाद्वैत दर्शन के दृष्टि विन्दु से 'मानस-सिद्धांत' का स्पष्टी करण किया है, जो कि सभी उपासकों के लिये सहज सुबोध सिद्धान्त है। इस प्रयत्न में मानस का बड़ा गम्भीर एवं मार्मिक अध्ययन प्रस्तुत किया है इन्होंने। जीवस्वरूप, मायास्वरूप, साधन स्वरूप एवं साधन-फल-स्वरूप के सम्बन्ध में भी श्री वेदान्तभूषण जी ने यथावसर इसी पद्धति पर लिखने का विचार इस ग्रन्थ सम्बन्धी अपने अग्रिम वक्तव्य में व्यक्त किया है और यह विचार उनके सभी अनुरागी पाठकों के लिए उत्साहदायी होगा। इस ग्रन्थ के अध्ययन-मनन से मानस के सिद्धान्त स्वरूप को समझने में जो सुविधा-सहायता मिलती है, उसे पाठक स्वयं अनुभव करेंगे।

मानस संघ-रामवन
शनिवार, माघ कृष्ण १२ सं० २००७

सुदर्शन सिंह 'चक्र'
सम्पादक 'मानसमणि'

॥ श्रीमते रामानन्दाय नमः ॥

भूमिका के सम्बंध में

किसी पुस्तक के आरम्भ में भूमिका लिखने की एक परिपाटी सी बनगई है और पाठकगण भी सर्वप्रथम भूमिका ही देखने के लिये उत्सुकता प्रगट करते हैं। परन्तु यह 'मानस सिद्धान्त' पुस्तक कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं है, प्रत्युत श्रीरामचरितमानस की दार्शनिक भूमिका मात्र ही है अतः इसकी अलग भूमिका लिखने का कोई प्रयोजन नहीं प्रतीत होता। हाँ रामायणीय जगत के लिये मेरा यह प्रयास कदाचित् नवीन भासमान हो और मानस के टीकाकारों किंवा कथावाचकों की तरह रूढ़ि की दासता की छाप न देखकर यदि रूढि-दास लोग इसको सौम्यदृष्टि से न देखते हुये इसपर वक्रदृष्टि निक्षेप करें तो भी उनसे 'मेरो उराहनों है कछु नाहिं।" मैं तो महाकवि भवभूति के निम्न सिद्धान्त पर विश्वास रखता हूँ—

"ये नाम केचिदिह प्रथयन्त्यवज्ञाँ,
जानन्तु ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति ममकोऽपि समानधर्मा,
कालोह्यसौ निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

मालती माधव अङ्क ६

अर्थात् जो लोग मेरे इस ग्रन्थ के प्रति अवज्ञा दिखलावें वे ही उसका कारण जानें। मेरा यह यत्न उनके लिये तो नहीं ही है। मेरा समान धर्मी या मेरे ग्रन्थ के गुणों का जानने वाला कोई न कोई सत्पुरुष विद्वान् किसी न किसी समय अवश्य ही उत्पन्न होगा अथवा आज भी विद्यमान होगा ही, क्योंकि काल अनन्त है और पृथ्वी बहुत बड़ी है।

यह तो निश्चित अटल सिद्धान्त है कि सर्व प्रकारेण

निर्भ्रान्त एवं निर्दोष एक मात्र ईश्वर ही है। बद्ध जीव तो सदा से भ्रम एवं दोष कोष ही रहा है। अतः उससे जब पद पद पर त्रुटि होना ही स्वाभाविक है तो वह त्रुटि के कारण उपहास्य न होकर दयनीय एवं साहाय्य होता है।—

अश्वस्थितस्य पतनं भवति प्रमादा

दुत्थापयन्ति च बुधाः परितोषयन्तः

मूर्खा हसन्त्यरितं परिनिन्दयन्ते,

विश्वं तु तद्विबुधवृन्द विचारणीयम् ॥

यह बात सहृदय विबुधवृन्द के लिये है। गुण में भी दोषोद्भावकों के लिये नहीं वे तो--

'सुन्दर मणिमय भवने पश्यति च्छिद्रं पिपीलिका सततम् ॥'

'कुसुमोद्याने क्रोड़ो शकृदन्वेषयति नितराम् ॥'

उक्ति चरितार्थ करते ही हैं।

यह पुस्तिका मानसगत पंच श्रौत सिद्धान्तों में केवल ब्रह्म-स्वरूप-निदर्शिका-भूमिका मात्र है जो 'मानसमणि' के प्राथमिक आलोकों में आलोकित हो चुकी है। यदि मानस प्रेमियों का शुभाशीर्वाद प्राप्त हुआ और मानस नायिका श्री श्री जू की कृपा हुई तो जीव स्वरूप, माया (विरोधी) स्वरूप, उपाय साधन कर्मज्ञान भक्ति प्रपत्ति प्रेमादिका स्वरूप और फल (भगवद्धाम एवं तद्गत दिव्यानन्तानन्दादिका) स्वरूप-निरूपण इसी दार्शनिक शैली से (जैसा कि इस पुस्तिका में निरूपण हुआ है) निरूपित होकर क्रमशः किंवा जब श्री श्री जू की जैसी इच्छा होगी प्रेमियों की सेवा में प्रेषित होगी। बारम्बार प्रार्थना है कि मेरे बालचापल्य से प्रसन्न होकर सभी मुझे भगवत्प्रेम एवं भगवत्कृपा का आशीर्वाद-पाथेय प्रदान करते रहेंगे।

भगवद्भागवतानुचर—

रामकुमार दास

।। श्रीमतेभगवते श्री रामानन्दाय नमः ।।
।। श्रीमत्तुलसीदासाय नमः ।।

श्री मानस सिद्धान्त

जनानामज्ञानप्रचुरतिमिरोद्दण्ड तरणिं,
गुणानां दिव्यानामुदधिमुपमानोपरहितम् ।
सदायोगाभ्यासोद्भव सुखनिधौ मग्नहृदयं,
यतीन्द्रं रामानन्दं परमभक्त्या नौमि नितराम् ।।१।।

नाना पुराण निगमागमक्षीरसिन्धो
र्निर्मथ्य देव नर दानव वन्द्य शंभुः ।
श्रीरामचन्द्र चरितामृत पूर्ण चन्द्रं
निष्कासितो विजयते स हि मानसेन्दुः ।।२।।

श्रीमत्तुलसीदासाय रामभक्ताय साधवे ।
सीतारामपदाम्भोज भ्रमराय नमोनमः ।।३।।

श्री रामचरितमानस के आरम्भ में ही ग्रन्थकार ने प्रतिज्ञा की है कि:—

नाना पुराण निगमागम सम्मतंयद्—
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा—
भाषानिबन्ध मतिमञ्जुल मातनोति ॥

इसका भावार्थ यह है कि—

जिस (श्रीशिवकृत) रामायण (श्रीरामचरित्रात्मक प्रबन्ध) में नानापुराण निगमागमादि के सम्मत अर्थात् निश्चित सिद्धान्त का कथन है, उस रामायण का विस्तार पूर्वक अत्यन्त सुन्दर भाषानिबन्ध अपने अन्तःकरण के सुख एवं शान्तिलाभ के निमित्त, मैं—तुलसीदास कुछ अपनी ओर से भी मिलाकर करता हूँ।

इस प्रतिज्ञा के अनुसार रघुनाथ गाथा (चरित) तो रामायण ही हुआ और कुछ अपनी ओर से मिलाये हुये को कवि ने कहीं तो स्वयं ही स्पष्ट शब्दों में बता दिया है तथा कहीं लक्षणों से भी मालूम पड़ ही जाता है। जैसे कवि का स्पष्ट कहना है कि

"आरति विनय दीनता मोरी।"
"मोरे मत बड़ नाम दुहूँते"

तथा कवि द्वारा मिलाया हुआ लक्षणों से मालूम पड़जाने वाला प्रकरण "जनकपुर का पुष्पबाटिका प्रसङ्ग" बालकाण्ड दोहा २२६ से २३७/५ तक। इत्यादि "क्वचिदन्यतोऽपि" में हुआ।

अब विचारना यह रह गया कि नानापुराण निगमागमादि का सम्मत अर्थात् निश्चित सिद्धान्त क्या है? उसका वर्णन भाषा रामचरितमानस में किस-किस ढंग से और कहाँ कहाँ पर हुआ है? इस पर जहाँ तक मुझे स्मरण है अभी तक किसी भी टीका कार ने कुछ भी प्रकाश नहीं ही डाला है। इसी से केवल टीका के ही बलपर रामायण विज्ञ कहाने वाले लोग कह—दिया करते हैं कि श्रीरामचरित ही नानापुराण निगमादि का सार

सिद्धान्त है। परन्तु खोज करने से पता चलता है कि उपलब्ध सम्पूर्ण पुराणों में श्रीरामचरित्र के अतिरिक्त और भी बहुत सी बातें भरी हैं कि जिनके आगे श्रीरामचरित्र अत्यल्पांशक प्रतीत होता है। यही हाल वेदों का है § प्रस्थानत्रयी की भी ऐसी दशा है कि-उपलब्ध उपनिषदों में केवल दो चार के अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में रामचरित्र या रामावतार की चर्चातक नहीं है। ब्रह्मसूत्र में तो "राम" ऐसा शब्द तक नहीं है तो फिर अवतार सम्बन्धी चरित्र की कौन कथा कही जावे। और श्रीभगवद्गीता में अपनी विभूति योग का वर्णन करते समय भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी ने एक बार कहा था कि:—

"रामः शस्त्रभृतामहम्" ॥ गी० १० । ३१ ॥

बस सम्पूर्ण १८ अध्यायों में केवल यही एकबार "राम" शब्द है किन्तु यह भी दाशरथी राम के लिये नहीं अपितु भार्गव राम (परशुराम) के लिये है, क्योंकि गीता के लेखक श्री वेद व्यासजी के मत से दाशरथी राम तो कृष्णादि सब से पर हैं। यथा—

नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यं चिकीर्षया ।
समुद्र निग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ॥

भागवत—१ । ३ । २२

आदि। (इस पर आगे विवेचन किया जावेगा। और यहाँ वभूति का वर्णन है।) दूसरे व्यास जी ने शस्त्रधारियों में श्रेष्ठता दिखाते हुये अन्य स्थलों पर भार्गव राम-परशुराम

§ वेदों में संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट रूप से श्रीरामचरित्र का वर्णन है। लगभग दो सौ मंत्रों का पूरे पता सहित संकलन करके "वेदों में राम कथा" नाम से मैंने भाषाटीका सहित तैयार कर रक्खा है। वह पुस्तक शीघ्र ही प्रकाश में आयेगी ॥ (लेखक)

का ही स्मरण किया है जैसे भागवत में ही अत्यन्त सुस्पष्ट शब्दों में—

भार्गवो शस्त्रभृतांवरिष्ठः ।

कहा है। अतः गीता में दाशरथी राम का नाम एवं चरित्र नहीं ही है। और प्रस्थानत्रयी ही की तरह अन्य दर्शनों की भी कथा है, एवं यही हाल स्मृतियों तथा तन्त्रागमों का भी है। इतिहासों में केवल श्री मद्वाल्मीकीय रामायण में ही प्रधान रूपेण जन्म से लेकर राजगद्दी पर्यन्त श्रीरामचरित्र कहा गया है और अन्य महाभारतादि इतिहासों में भी पुराणों की तरह रामचरित्र यत्किंचित् ही है। तब यह कहना कि 'सब पुराण तथा वेदेतिहासादिकों का सम्मत सिद्धान्त एक-मात्र श्रीरामचरित्र ही है।' सम्पूर्ण अंशों में उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। अतएव सब वेद पुराणादिकों का सम्मत क्या है? सम्पूर्ण वेद पुराण इतिहासादि एक स्वर से किस सिद्धान्त की उद्घोषणा कर रहे हैं? इसे जानने के लिए सम्पूर्ण वेद शास्त्रादि का मंथन करके सार तत्व निकालना अत्यावश्यक है, परन्तु यह गुरुतर कार्य आजकल के हमारे ऐसे अल्पायु अल्प विद्या बुद्धि, शील तथा अल्प मानसिक बल वाले क्षुद्र प्राणियों के लिए कठिन ही नहीं वरन् सर्वथा असम्भव है। अतएव अपने पूर्व पुरुषों की शरण में ही जाकर इस जिज्ञासा का समन्वय करना हम लोगों को श्रेयस्कर है। क्योंकि हमारे पूर्वज महर्षिगण सांसारिक प्रपंच से सर्वथा रहित होने के कारण दिनरात स्वात्म परमात्म चिन्तन में ही लगे रहते थे तो भी केवल लोकोपकार परायणता के कारण वेद शास्त्रादिकों का मंथन करके उसका सारतत्व संसार को समझाया करते थे। अतः उन्हीं पूर्वज महर्षियों के निबन्धों के देखने से पता चल सकता है कि सम्पूर्ण सच्छास्त्रों का सर्व सम्मत सिद्धान्त क्या

है। उन्हीं पूर्वज विज्ञ महर्षियों में महर्षि हारीत जी का अपना एक विशेष स्थान है। आपके स्मृति-धर्म शास्त्र के अतिरिक्त ज्योतिष वैद्यक एवं दर्शनादिक पर स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त हैं। आपके मत से सर्व शास्त्रों का सिद्धांत अर्थपञ्चक तत्व ही है जैसा कि आप (महर्षि हारीत जी) लिखते हैं:—

प्राप्यस्य ब्रह्मणोरूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः ।
प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्ति विरोधिच ॥ १ ॥

वदन्ति सकला वेदा सेतिहास पुराणकाः ।
मुनयश्च महात्मानो वेद वेदाङ्ग वेदिनः ॥ २ ॥

अर्थात्—इतिहास पुराणादिकों के सहित सम्पूर्ण वेद तथा वेदागांदि को पूर्ण रूप से जानने वाले महात्मा मुनि लोग—'भक्ति ज्ञानादि उपायों द्वारा प्राप्त होनेवाले ब्रह्म का स्वरूप १, उपाय करके ब्रह्म को प्राप्त करने वाले जीव का स्वरूप २, ब्रह्मप्राप्ति के उपाय ३, ब्रह्म की प्राप्ति होजाने से जीव को क्या लाभ होगा इसका विवरण (फलस्वरूप) ४, और ब्रह्म प्राप्ति में बाधा डालने वाले विरोधियों का स्वरूप ५' इन्हीं पाँचो अर्थों को ही कहते हैं। इतिहास पुराणादिकों में अनेकों कथायें कह कह कर उपरोक्त पाँचों तत्व समझाये गये हैं किन्तु प्रस्थानत्रयी में तो केवल इन्हीं पाँचों बातों का ही विवरण है अन्य कुछ है ही नहीं। परन्तु क्रमशः अर्थ पञ्चकमात्र का ही वर्णन तो केवल ब्रह्मसूत्र (वेदांत दर्शन) में हो है। वह इस तरह कि 'प्रथमाध्याय में प्राप्य ब्रह्म का स्वरूप, द्वितीयाध्याय के दो पादों में प्रापक जीव का स्वरूप, तथा द्वितीयाध्याय अवशिष्ट दो पादों में प्राप्ति विरोधी (प्रकृति) का स्वरूप, तृतीयाध्याय में ब्रह्म प्राप्ति के उपाय और चतुर्थाध्याय में ब्रह्म प्राप्ति के फल का स्वरूप

वर्णन है। जिसका कारण यह है कि केवल अर्थ पञ्चकतत्व समझाने के लिए ही भगवान् वेदव्यास जी ने ब्रह्मसूत्रों की सृष्टि की है।

अतएव प्रस्थानत्रयी के देखने एवं महर्षि हारीत जी के उपर्युक्त बचनों से यह सिद्ध होगया कि 'नानापुराण निगमादि का सम्मत' अर्थ पंचक तत्व के कथन में ही है और साथही साथ यह भी निश्चय होगया कि श्री मद्गोस्वामीजी ने भी अपने मानसकाव्य में कुछ कुछ अपनी ओर से मिलाकर श्रीरामचरित्र के साथ साथ ही प्रसंगानुकूल उपरोक्त पाँचों अर्थों में से किसी का कहीं किसी का कहीं कुछ दिग्दर्शनमात्र करा दिया और कहीं विस्तार से लिख दिया है। जैसे व्यासजी ने अपने पुराणेतिहासादि ग्रन्थों में बीच बीच में कथायें कहकर अर्थपंचक तत्व का ज्ञान सूक्ष्मरूप से करादिया है और श्री मद्भागवत में अन्य महापुराणों की शैली रखते हुए भी अर्थपंचक का विस्तार किया है और शारीरिक-मीमांसा वेदांत दर्शन (ब्रह्मसूत्र) में क्रमबद्ध कथायें न कहकर किसी किसी कथा का कहीं कहीं पर निर्देश मात्र करके केवल अर्थपंचक को ही समझाया है। उसी तरह श्री गोस्वामीजी ने भी अपने अन्य ग्रंथों (दोहावली गीतावली आदि) में सूक्ष्म रूप से अर्थपंचक का कथन कर दिया है और श्रीरामचरितमानस में विस्तार रूप से कथाओं के साथ साथ अर्थपंचक का कथन किया है और विनय पत्रिका में क्रमबद्ध कोई कथा न कहकर केवल कहीं कहीं किसी किसी कथा की ओर संकेत मात्र करके एकमात्र अर्थपंचकतत्व को ही समझाया है परंतु व्यासजी के ब्रह्मसूत्र की शैली से नहीं अपितु स्वतंत्र ढङ्ग से, आखिर आदि कवि के अवतार जो थे। परंतु प्रस्तुत लेख श्री श्रीरामचरितमानसविषयिक ही है इसलिए श्रीरामचरितमानस से ही अर्थपंचक देखने का कुछ प्रयास किया

जायगा। किंतु गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथों की सहायता न लेने की भी शपथ नहीं है क्योंकि "ग्रंथस्यग्रंथांतरे टीका।" इस न्यायानुसार श्रीरामचरितमानस का पूर्ण भाव—रहस्य-विनय पत्रिका आदि उनके अन्य ग्रंथों में ही निहित है। मैं तो यही मानता हूँ कि—

गीत कवित दोहावली विनयादिक सब ग्रन्थ।
मानस भोवहिं लखन को तुलसी रच्यो सुपन्थ॥

पाठकों को इतना न भूलना चाहिए कि यहाँ जो कुछ अर्थ पञ्चकतत्व लिखा जायेगा वह विशिष्टाद्वैत सिद्धांतके अनुसार ही लिखा जायेगा क्योंकि श्रीगोस्वामीजी तो अनादिवैदिक सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत वादी श्री सम्प्रदायाचार्य जगद्गुरु अनन्त श्रीयुत् स्वामी रामानन्दाचार्य जी महाराज के परम प्रिय एवं प्रधान शिष्य श्री अनन्तानन्दाचार्य जी के शिष्य श्री नरहर्य्याचार्य जी के कृपा पात्र (शिष्य) थे और स्वामी श्री अनन्तानन्दाचार्य जी के ही शिष्य पण्डित प्रवर श्री शेष सनातन जी के सुयोग्य छात्र थे। इसी से श्रीगोस्वामी जी ने अपने मानसादि द्वादश ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार प्रधान रूप से भक्ति से ही मुक्ति का वर्णन किया है और अद्वैतादि अन्य सिद्धान्तोक्त साधनों की कुछ अवहेलनात्मक दृष्टि से वर्णन करते हुये उनकी उपेक्षा ही नहीं अपितु आलोचनात्मक खण्डन बड़े जोरदार शब्दों में किया है। जिस तरह शास्त्रों में अर्थ पञ्चक का वर्णन किया गया है विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में अर्थपंचक वर्णन करने की अद्यावधि वही रीति है। और मानसकार ने भी उसी परिपाटी का पालन किया है।

भोक्ताभोग्यं प्रेरितारं चमत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधंब्रह्म चैवत्।
(श्वे० उ० १। १२।)

इत्यादि प्रकार से श्रुतियों में बड़े विशद् रूप से अर्थपंचक तत्व का वर्णन किया है। अतः यहाँ श्रुतियों के बताये हुये क्रम से अर्थों का वर्णन करने के पहले विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ तथा कुछ सिद्धान्त कह देना अनुचित न होगा, जिससे मानसादि ग्रन्थों का अर्थ उक्त सिद्धान्तानुसार समझने में कठिनाई का सामना न करना पड़े।

इस निखिल प्रपंच की सूक्ष्म एवं स्थूल भेद से दो अवस्थायें हैं। सूक्ष्मावस्थापन्न कारण और स्थूलावस्थापन्न कार्य हुआ करता है। जैसे घट की सूक्ष्मावस्था मृत्पिण्ड है वही मृत्पिण्ड स्थूलावस्था में घट हो जाता है। और यही दार्शनिक सत्कार्य वाद है। घटका उपादान कारण घटाकारेण परिणित होने पर भी मृत्पिण्ड ही है, इसी प्रकार प्रकृति शारीरिक ब्रह्म ही निखिल प्रपंच का उपादान कारण है। अभिन्न निमित्तोपादानत्व ब्रह्म में है ऐसा सभी सद्वेदान्तवेत्ता लोग मानते हैं। और—

यथोर्णनाभिः सृज्यते गृह्यते च।

(मु० उ० १।१।७)

इस श्रुति द्वारा ऊर्णनाभि (मकड़ी) का दृष्टान्त भी देते हैं। उपादान कारण रूप चिदचिच्छारीरक ब्रह्म महाप्रलय काल में सूक्ष्मावस्था में था, वही सृष्टिकाल में स्थूलावस्था वाला होगया। इसी सिद्धान्त से महाप्रलय में सूक्ष्मचित् और सूक्ष्म अचित् विशिष्ट ब्रह्म को 'सूक्ष्मचिद-चिद्विशिष्ट ब्रह्म कहते हैं। और इसी प्रकार सृष्टि काल में स्थूलचित् और स्थूल अचिद्विशिष्ट ब्रह्म को 'स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' कहते हैं। उक्त सिद्धान्त की व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि—

विशिष्टं च विशिष्टं च बिशिष्टे,
तयोः बिशिष्टयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम् ।

अर्थात् कारणावस्थापन्नचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही स्थूलावस्थापन्न कार्य ब्रह्म हो जाया करता है। अतएव दोनों अवस्था वाले ब्रह्म का ऐक्य (अद्वैतता) है। एतदर्थ इस सिद्धान्त में किसी भी अवस्था में ब्रह्म को निर्विशेष नहीं माना गया है और यही (विशिष्टाद्वैत) सिद्धान्त ही गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में गुम्फित कियाहै। अतः श्रुतियों में कहे गये अर्थपंचक के अनुसार मानस कथित अर्थपंचक का वर्णन कियाजाता है।

प्रश्न—यदि सब वेदशास्त्रों में रामचरित्रही नहीं कहा गया है; सबका सार भगवच्चरित्र ही नहीं है; तो क्या विष्णु रहस्य एवं महाभारत स्वर्गारोहण पर्व का यह वाक्य मिथ्या है कि—

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते ॥१

इस श्लोक का यह अर्थ सर्व सम्मति से कदापि नहीं हो सकता कि सम्पूर्ण वेद, पुराण, आगम तथा भारतादि सच्छास्त्रों❀ में श्री रामावतार या किसी अवतार विशेष के चरित्र ही

❀ याज्ञवल्क्य स्मृति अ० ३ में—

'पुराणं न्याय मीमांसा धर्म शास्त्रांग मिश्रिताः ।
वेदा स्थानानि विद्यानि धर्मस्य च चतुर्दश ॥'

यह १४ धर्म के बतलाने वाले शास्त्र कहे गये हैं। इनमें सत् शास्त्रों का वर्णन करते हुये अन्यत्र कहा गया है कि—

'ऋग्यजुः सामाथर्वाणं भारतं पंचरात्रकम् ।
मूल रामायणं चैव शास्त्र मित्यभिधीयते ॥
यच्चानुकूलमेतस्य शास्त्रत्वं तस्य कीर्त्यते ।'

(मलरामायण का अर्थ षटकांडात्मक वाल्मीकीय रामायण है)

गान किये गये हैं। किन्तु 'हरिः सर्वत्र गीयते' का तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि सब सच्छास्त्रों के उपक्रम, अभ्यास एवं उपसंहारादि में सर्वत्र भगवान को ही, कहीं उपाय रूप से तो कहीं उपेयरूप से कहा गया है न कि किसी अवतार विशेष का चरित्र ही चित्रण किया गया हो। अतः महर्षि हारीत ने शास्त्रान्वेषण द्वारा जो सिद्धान्त हमारे सामने रखा है अन्ततोगत्वा वही (अर्थपञ्चक ही) सबका सिद्धान्त मानना पड़ता है और उसी सिद्धान्त को देव देव भगवान शङ्करजी ने अपने रामायण में रखा था जिसे कि महाकवि ने अपने अनूठे महाकाव्य में यथा स्थान रखा है। अस्तु—

उपरोक्त पाँच अर्थों का वर्णन श्री रामचरितमानस में कैसे है इसे जानने के लिये निम्नलिखित सप्त लिङ्गों का आश्रय लेना आवश्यक है।

उपक्रमोप संहारावभ्यासोऽपूर्व ता फलम् ।
अर्थ वादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य निर्णये ॥

अर्थात् उपक्रम (आरम्भिक वाक्य)१। उपसंहार (समाप्ति के वाक्य)२। अभ्यास (किसी एक ही बात की बारम्बार आवृत्ति) ३। अपूर्वता (प्रकारान्तर से प्राप्त होने वाला निर्णय) ४। फल (साधन द्वारा सिद्ध होने वाला निर्णय) ५। अर्थवाद (प्रशंसात्मक वाक्य) ६। और उपपत्ति (अनुकूल युक्तिमय वाक्य) ७। इन्हीं सप्त प्रकारों द्वारा ही किसी ग्रन्थ के सिद्धान्त का पता लगाने की प्राचीन परंपरा है। अतएव इसी प्रकार मानस कथित अर्थ पंचक का विवरण किया जाता है।

यद्यपि कि 'यन्मायावशवर्त्ति०'—आदि (श्लोक ६) 'माया-ईश न आपु कहँ'—मध्य (आ० का० दो० १५) तथा 'पाई न केहि गति पतित पावन राम—' अन्त में सूक्ष्म रूप से अर्थ पंचक का वर्णन कर दिया गया है। यथा आरम्भ के श्लोक में—

'रामाख्य मीशं हरिम्' प्राप्य ब्रह्म का स्वरूप ।

'वशवर्त्ति ब्रह्मादिदेवासुराः' प्राप्ता प्रत्यगात्मा (जीव) का स्वरूप २ ।

'यत्पादप्लव एक एव०' (भगवच्चरणानुराग) उपाय स्वरूप ३।

'भवाम्भोधि' से (तरजाना) फल स्वरूप ४ ।

'यन्माया' माया * विरोधी स्वरूप ५ ॥

मध्य आ० दो० १५ § में—

'माया' विरोधी स्वरूप १ ।

'ईश' प्राप्य ब्रह्म का स्वरूप २ ।

'आपु' प्राप्ता प्रत्यगात्मा (जीव) का स्वरूप ३ ।

'भेद जान कर उपासना करना' उपाय स्वरूप ४ ।

'मोक्ष' फलस्वरूप ५ ॥

अन्तिम छन्दः—

'पाई न केहि गति पतित पावन तथा पायो परम विश्राम रामधाम सिधावहीं फल स्वरूप १ ।

'रघुबंस भूषण चरित, रामभजि, तथा जाकी कृपा लवलेस' फल स्वरूप २ ।

'गनिका, अजामिल, व्याध, गीध गजादि आभीर, जवन किरात खस, स्वपचादि तथा 'जे नर' और 'राम धाम सिधा-वहीं' इत्यादि से बद्धमुक्तादि प्रत्यगात्मा (जीव) का स्वरूप ३ ।

---

*माया वश स्वरूप बिसरायो । तेहि भ्रमते दारुन दुख पायो ॥ वि०प०

§इस दोहे में विस्तृत रूप से अर्थपंचक का वर्णन मानस के प्रसिद्ध टीकाकार श्री बैजनाथ जी तथा वृन्दावन वाले श्री विन्दुजी ने अपनी रामगीता के रहस्य बिन्दु प्रकाशिका टीका में किया है। इसी से संकेत-मात्र करके छोड़ देता हूँ ।

'सो एक राम अकाम हित निर्वान प्रद सम आनको' प्राप्य ब्रह्म का स्वरूप ४।

'कलिमल मनोमल' विरोधी स्वरूप ॥ ५ ॥

तो भी कुछ विस्तार से मानस कथित अर्थपंचक का विवरण श्रुतिस्मृत्यनुकूल उपक्रमोप संहारादि सप्तलिंगों द्वारा ही किया जाता है। स्मरण रहे कि इस लेख में किसी किसी पद्य या पद्यांश की कई बार आवृत्ति हो जाने के अतिरिक्त किसी किसी वाक्य या वाक्य खण्ड की अनेकों आवृत्तियाँ हो जावेंगी परन्तु वे पुनरुक्ति दोष न गिनी जानी चाहिये, अपितु उपनिषद् भाष्यकार आचार्य स्वामी श्री हरिदास जी के कथनानुसार गुणावह ही हैं। कथन यह है कि—

सूक्ष्मतत्वविचारेहि पुनरुक्तिर्न दोष भाक्।
मण्यादीनां परीक्षादौ यतोदृष्टिर्गुणावहा ॥
अतः पुनः पुनर्ह्यत्र रामस्य श्रुति सम्मतम्।
निदानत्वंप्रकाश्यामिवाक्यैस्तैस्तैस्सयुक्तिकम् ॥
(रा० ता० भाष्यम्)

प्रथम अर्थ प्राप्य ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन

१—उपक्रम-"यन्माया वशवर्ति विश्वमखिलं;
"यत्सत्वादमृषैव भातिसकलं
"यत्पादप्लव एकएव"
"रामाख्यमीशं हरिम्।"

२—उपसंहार-"श्री रघुपति हरैं।"

३—अभ्यास-"विषय करन सुर जीव समेता।
सकल एक ते एक सचेता ॥

सब कर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई।
नेति नेति जेहि वेद निरूपा॥
चिदानन्द निरूपाधि अनूपा।
उपजहिं जासु अंस ते नाना॥
संभु विरंचि विष्नु भगवाना।
सब मम प्रिय सब मम उपजाये॥
व्यापक ब्रह्म अखण्ड अनंता।
अखिल अमोघ सक्ति भगवंता॥
सोइ सच्चिदानन्दघन रामा।
अज विग्यान रूप गुनधामा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी।
ब्रह्म निरीह विरज अविनासी॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता।
समदर्सी अनवद्य अजीता॥
निर्गुन निराकार निर्मोहा।
नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
चिदानन्दमय देह तुम्हारी।
रहित विकार जान अधिकारी॥

(माया वादियों के सिद्धांतानुसार ब्रह्म को निावशेषचिं-मात्र मानने में गोस्वामीजी का तात्पर्य नहीं है। यदि ऐसा होता तो 'चिदानन्द मय देह तुम्हारी' इस तरह न लिखते।

इसीलिये निर्गुण निराकारादि का अर्थ गोस्वामी जी के 'प्रकृतिपार प्रभु सब उर वासी' इस कथनानुसार 'निर्गुण' का है 'प्राकृतिक गुण रहित' और 'प्राकृतिक आकार रहित' ही अर्थ है। ब्रह्म दिव्याकृति और आनन्दादि दिव्यगुण विशिष्ट है, इसी से ब्रह्म के लिये 'चिदानन्दमयदेह तुम्हारी' कहना संघटित हो सकता है।)

४—अपूर्वता—

'राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी।
सर्व रहित सब उर पुरवासी॥
ऐसे प्रभु सेवक बस अहहीं।
भक्त हेतु लीला तनु गहहीं॥
भक्त हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।'

श्रुति भी यही कहती है कि—

'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणोरूप कल्पना॥'
अ० वे० रा० ता०

५—फल—

'सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन
निकाम पति माया धनी'।

जब राजर्षि विदेहजी ने महर्षि विश्वामित्र जी से पूछा था कि—

'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय बेष धरि सोइ कि आवा॥'

तब महर्षि विश्वामित्र जी ने उत्तर दिया था कि—

'बचन तुम्हार न होइ अलीका ।'

अर्थात् आपका कहना मिथ्या नहीं। भाव यह कि श्रुति से नेति नेति प्रतिपादित ब्रह्म ये (दाशरथी राम लक्ष्मण) ही हैं।

६—अर्थवाद—(प्रशंसा)-

राम प्रताप प्रभाव तुम्हारा ।
को कहि सकै को जाननि हारा ॥

जब ब्रह्म के सच्चे गुणों को 'स्तोतुमम्बुजभवोपि हि देवनेशः '। तब उसकी प्रशंसा कोई क्या कर सकेगा । अतः ब्रह्म में अर्थवाद नहीं कहा जा सकता ।

७—उपपत्ति—

राम सच्चिदानन्द दिनेसा ।
नहिं तहं मोह निसा लवलेसा ॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा ।
अबिगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल विकार रहितगत भेदा ।
कहि नितनेति निरूपहिं वेदा ॥
ब्रह्म अनामय अज भगवन्ता ।
व्यापक अजित अनादि अनन्ता ॥

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुण विगत विनोद ।
सो अज प्रेम भक्ति बस, कौसल्या की गोद ॥
सुख सन्दोह मोह पर, गिरा ज्ञान गोतीत ।
सोइ सच्चिदानन्द घन, कर सिसु चरित पुनीत ॥

अद्वैती (माया वादी) अपना सिद्धांत कहते हैं कि निर्विशेष शुद्ध (कारण) ब्रह्म अवतार नहीं लेता। मायोपहित अशुद्ध (कार्य) ब्रह्म ईश्वर कहलाता है, वही अवतार लेता है। वैष्णव प्रवर श्रीगोस्वामी जी का सिद्धान्त सर्वथा प्रतिकूल है। गोस्वामीजी कहते हैं कि–

"सुद्ध सच्चिदानन्दमय, कंद भानु कुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥
अविगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुन्दा।
योगिन परमतत्वमय भासा।
सान्त सुद्ध सम सहज प्रकासा॥

भगवद्वतार को मायोपहित (माया से आच्छादित) ब्रह्म मानने वालों को गोस्वामी जी ने शिवजी के उत्तर रूप में बड़े कड़े शब्दों में फटकार बतलाया है यथा—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी।
प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
जथा गगन घन पटल निहारी।
झाँपेउ भानु कहहिं कुविचारी॥
माया बस मतिमन्द अभागी।
हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं।
निज अग्यान राम पर धरहीं॥
उमा राम बिषयिक अस मोहा।
नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥

जब पार्वतीजी ने शङ्का किया कि शुद्ध ब्रह्म तो अवतार लेता ही नहीं तब अवधेशकुमार राम ब्रह्म कैसे हुये ? क्या शुद्ध (निर्गुण)ब्रह्म और अवधपति राम भिन्न भिन्न हैं ? यह सुनते ही शिवजी ने अनखा कर ऐसा कहने वालों को पचीसों कुवाक्य (देखो बालकाण्ड दोहा ११४, ११५,) कहकर तब उनका समाधान किसा (देखो बा० दो० ११५ से ११६ तक) जिसे सुनकर पार्वती की

'मिटिगै सब कुतरक कै रचना' और

'दारून असम्भावना बीती'।

अवतार लेने वाले ब्रह्म को मायोपहित, कार्य और अशुद्ध ब्रह्म मानना गोस्वामीजी के सिद्धान्त से दारुण असम्भावना तथा कुतर्क की रचना है।

सच्छास्त्रों ने ब्रह्म का जो लक्षण एवं ब्रह्म को जिन गुणों में विशिष्ट प्रतिपादन किया है,उन्हीं लक्षणों तथा गुणोंसे विशिष्ट श्रीरामजी को गोस्वामी जी ने भी अपने रामचरितमानस में लिखा है। क्योंकि वेद तो ब्रह्म शब्द वाच्य दाशरथी राम को ही कहता है।

यथाः—

'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते॥'

(अथर्व वेद ता०)

तथा वेदोपबृंहणभूत स्मृति का भी यही कहना है कि—

यथा घटश्च कलश एकस्यार्थाभिधायकः।
तथा ब्रह्म च रामश्च नूनमेकार्थ वाचकः॥

अग० सं०।

अतः वेद तथा—

'वेदार्थो निश्चेतव्यः स्मृतीतिहास पुराणैः'

(श्री वचन भूषण)

के अनुसार स्मृति, इतिहास पुराणादिकों में वर्णित ब्रह्म के जो लक्षण एवं गुण हैं वही रामचरितमानस में भी ब्रह्म श्री रामजी के लिये हैं। उन्हीं में से कुछ दिग्दर्शन कराकर आगे बढ़ना उचित समझता हूँ।

१—ब्रह्म का जगद्व्यापारकत्व—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभि
विशंति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।

तै० भृ० ब० १।

अर्थात् जिससे सम्पूर्ण जगत उत्पन्न होकर पालित होता है और अंत में जिसमें लय होता है एवं जिसके द्वारा जीव मोक्ष पाता है, उसी की जिज्ञासा करनी चाहिये क्योंकि वही ब्रह्म है (और सबको अपने शासन में रखता है। इसी से वही ईश्वर भी कहाता है)।

'उमा राम की भृकुटि विलासा।
होइ विश्व पुनि पावे नासा॥' और
राम रजाय सीस सबही के।
उत्पति थिति लय विषहु अमी के॥' मानस

२—हेय गुण रहितत्व—

'य आत्मोऽपहतपाप्मा बिजरो विमृत्यु
विंशोका विजिघत्सोऽपिपासः।'

छा० ८।७।१॥

ब्रह्म में एक भी निकृष्ट गुण नहीं हैं इसी से वह निर्गुण कहलाता है और अनन्तानन्त दिव्यगुण विशिष्ट होने से वही सगुण कहलाता है।

'सकल विकार रहित गत भेदा।'
'सबगुन धाम राम प्रभुताही।'
'जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि।'

मानस।

३—आप्त कामत्व--

'सत्य कामः'

छा० ८।७१॥

'पूरन काम राम सुखरासी'

मानस॥

४--सत्य संकलपत्व--

'सत्य संकल्पः'।

छा० ८।७१॥

'राम सत्य संकल्प प्रभु'
'सत्यसंध प्रभु सुर हितकारी'।
होइहै सोइ जो राम रचिराखा॥

मानस॥

५—अनन्तत्व--

अनन्त उसे कहते हैं जो देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न और वस्त्वावच्छिन्न न हो। ईश्वर के स्वरूप, रूप गुण, विभव, चरित्र आदि सब अनन्त हैं।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'

तै० ब्र० १।

'राम अनन्त अनन्त गुन अमित कथा विस्तार।'

मानस ॥

६—स्वातन्त्र्य—

जिसके ऊपर कोई शासन करने वाला न हो उसे स्वतन्त्र कहते हैं। और वैसा एक मात्र ईश्वर ही है।

'पतिं पतीनां परमं परस्तात्'

श्वे० ६। ७॥

परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई।
भावे मनहिं करहु तुम सोई' ॥

मानस ॥

७—विभुत्व (अर्थात् व्यापकत्व)—

'नित्यं विभुं सर्व गतं सुसूक्ष्मम्'।

श्रु० ॥

'व्यापक ब्रह्म अजित भुवनेश्वर'
'राम ब्रह्म व्यापक जगजाना' ॥

मानस ॥

जो प्रत्येक परमाणु परमाणु में रहता है उसे विभु या व्यापक कहते हैं। ईश्वर को—

'देसकाल दिसि विदिसहु माहीं।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥'
'जहँ न होउ तहँ देहु कहि० ॥

इत्यादि स्थलों पर सर्व व्यापक कहा गया है। ईश्वर की व्यापकता, स्वरूप व्याप्ति, ज्ञान व्याप्ति और विग्रह व्याप्ति भेद से तीन प्रकार शास्त्रों में कही गई है।

ईश्वर का जो सर्वान्तर्यामित्व स्वरूप है, उसी सर्वान्तर्यामिता के द्वारा वह सर्व व्यापक है।

'सब के उर अन्तर बसहु'

यही स्वरूप व्याप्ति कही जाती है।

सर्व चराचर जगत को ईश्वर अपने व्यापक ज्ञान द्वारा देखता है यथा—

'सब जानत प्रभु बिनहिं जनाये' ॥

यही उसकी ज्ञान व्याप्ति कही जाती है। और

'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'

यजुर्वेद ३१।३।

यस्य पृथिवी शरीरं...यस्यात्मा शरीरं... यस्य सर्वं शरीरं'

बृ० उ०

'जगत्सर्वं शरीरं ते'।

वा० रा० ६।११७।१५॥

'विश्वरूप रघुवंशमनि' 'विश्वरूप व्यापक रघुराई'।

मानस।

तात्पर्य यह कि ईश्वर का जगद्रूप शरीर सर्वत्र है। इसी को विग्रह व्याप्ति कहते हैं।

८—सर्व व्यापकत्व—

'तस्य भासा सर्वमिदं बिभाति'।

क० उ० २।५।१५।

'सब कर परम प्रकासक जोई ।
राम अनादि अवधपति सोई ॥'

मानस ॥

९—स्वयं प्रकाशत्व—

'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः ।'

बृ० उ० ६।४।१६।

'स्वभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्त रूपी स्वेनैव भासते ।

रा० ता० उ० २।१

'सहज प्रकास रूप भगवाना' ।

मानस ॥

१०—सौशीलल्य—

जिस गुण के कारण व्यक्ति स्वयं महान होते हुये भी अनिर्हेतुकीय प्रेम से नीच, दीन, हीन, मलीन, वीभत्स और कुत्सित का भी आलिङ्गन और सम्भाषणादि करता है, उसी गुण का नाम सौशील्य है । यथा—

'दीनैर्हीनैर्मलीनैश्च वीभत्सै कुत्सितैरपि ।
महतोऽच्छिद्र संश्लिष्टं सौशील्यं बिदुरीश्वरे' ॥

भग०गु०द० ॥

'वेद बचन मुनिमन अगम ते प्रभु करुना अयन ।
वचन किरातन के सुनत जिमि पितु बालक बयन '॥
'प्रभु अपने नीचहु आदरहीं' ।
'कहुँ न राम समसील संकोची' ॥
'तुलसी कहुं न राम से साहिब सील निधान' ।

मानस ॥

११—सौन्दर्य—

'लोकोत्तर लावण्यवदंगत्वं सौन्दर्यम्'

लोकोत्तर लावण्ययुक्त अंगत्व को सौन्दर्य कहते हैं।

यथार्हसन्निविष्टानामङ्गानां रुचिरत्विषाम् ।
शोभोत्कर्षैक संदर्भः सौन्दर्यं सुर सत्तम ॥
अन्योन्यापेक्षया तेषामुत्कर्षोत्कर्ष दर्शनम् ।
आश्चर्यं भगवद् गानां सौन्दर्येषु हर्षा मतम् ॥
अंगेन येनयेनैव दृष्टमात्रेण पश्यताम् ।
सुखमुत्पद्यते सद्यः सौन्दर्यं तत्र तत्र च ॥

और ऐसा लोक विलक्षण सौन्दर्य एक मात्र भगवान् श्रीरामजी के ही-

'रूपोदार्य गुणै पुंसां दृष्टि चित्तापहारक:'

दिव्य मङ्गल विग्रह में है, जिस—

'रूप संहननं लक्ष्मीं सौकुमार्य सुवेषताम्'

बा० रा०

— को देखकर सौन्दर्य की दासी स्त्रियों की कौन कहे—

'अंगंगलितं पलितं मुण्डं दशन विहीनं जातं तुण्डम'

दशा वाले बड़े बड़े तपोधन महर्षियों के चित्त की दशा नवोढ़ा कामिनियों की सी हो गई। जैसा कि भगवान बादरायणजी ने लिखा है कि—

पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्य वासिनः ।
दृष्ट्वा रामं हरिंस्तत्र भोक्तुमैच्छत्सुविग्रहम् ॥

प० पु० ॥

एक कवि ने तो स्पष्ट शब्दों में उन महर्षियों का मन्तव्य लिख दिया है।

'धिग्धिग्त्रिविधि कममख च योगं,
धिग्धिग्समाधिसुखमात्मसुखानुभूतिम्।
यद्रामचन्द्र मधुराधर संस्थमैतत,
पीयूषपानममृतं न वयं लभाम हे ॥'

श्री कृष्णोपनिषद् की श्रुति इस बात को बहुत ही संक्षेप किन्तु सुस्पष्टरूप से बताती है—

हरिःॐ श्री महाविष्णुं सच्चिदानन्द लक्षणम्
रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्ग सुन्दरं मुनयो
वनवासिनोविस्मिता बभूवः ॥

और तो और जो विलक्षणता किसी भी अवतार के प्रति न सुनी गई कि एक अवतार को देख कर दूसरा अवतार मोहित हो जाय वह विलक्षणता श्रीराम रूप में देखी गई कि देखते ही साक्षात् विष्णु भगवान तथा—

परशुराम बिन कारण कोही। राम रूप देखत गै मोही ॥

। विश्राम-सा०।

गोस्वामीजी ने भी लिखा है कि—

'हरिहित सहित राम जब जोहे।
रमा समेत रमा पति मोहे। विष्णु।
'रामहिं चितै रहे थकि लोचन।
रूप अपार मार मदमोचन ॥"

परशुराम।

'वय किसोर सुखमा सदन स्याम गौर सुखधाम।
अंग अंग पर वारियहि कोटि कोटि सत काम॥'

'छबि समुद्र हरिरूप विलोकी।'
एकटक रहे नयन पट रोकी॥'
'देखि मनोहर चारिउ जोरी।
सारद उपमा सकल ढंढोरी॥'
'देत न बनै निपट लघु लागी॥'

मानस॥

सरयू वर तीरहिं तीर फिरैं, रघुवीर सखा अरु बीर सबै।
धनुहीं कर तीर निषंग कसे, कटि पीत दुकूल नवीन फबै॥
तुलसी तेहि औसर लावनिता दस *चारि नौतीन एकीस सबै।
मति भारति पंगु भई जो निहारि विचारि फिरि उपमा न फबै॥

(कवितावली)

सुखमा सुरभि शृंगार छीर दुहिमयन अमियमय कियो है दही री॥
मथि माखन सियाराम सँवारे सकल भुवन छबि मानहुँ मही री॥

गीतावली

१२—साम्य-

(क) किसी के जन्मज्ञान, वृत्ति चरित्र और गुणादि की अपेक्षा-बिना सबको आश्रय देना साम्य गुण है। वह एक मात्र ईश्वर में ही है यथा—

---

*१० दिग्पाल, ४ चतुर्व्यूह, ३ त्रिदेव, ६ प्रसिद्ध दस अवतारों में रामातिरिक्त ६ अवतार। (सब के एकीश 'एक मात्र ईश' राम जी) (दीनजी)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम् ॥
गीता ९ । ३२

भक्तिवंत अतिनीचौ प्रानी ।
मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी ॥
कोटि विप्रवध लागै जाहू ।
आये सरन तजौं नहिं ताहू ॥
मानस ॥

कैसहु पामर पातकी जेहि लई नाम की ओट ।
गाँठी बांध्यो राम सो परखेउ न फेरि खरखोट ॥
विनय पत्रिका ॥

(ख) चराचर मात्र के साथ एक सा व्यवहार रखना अर्थात् राग द्वेष (प्रेम बैर) न रखते हुये सब के कर्मानुसार सुख दुःखादि फल देना ईश्वर की साम्यता है। जैसे एक न्याय शील राजा अपनी सम्पूर्ण प्रजा में समभाव रखते हुये उत्तम कर्म करने वालों को पुरस्कार और घृणित कर्म करने वालों को दण्ड देता है वैसे भगवान भी—

"सुभ अरु असुभ कर्म अनुहारी ।
ईस देइ फल हृदय बिचारी ॥' और
यद्यपि सम नहिं राग न रोषू ।
गहहिं न पाप पुण्य गुन दोषू ॥ परन्तु
तदपि करहिं सम विषम बिहारा ।
भक्त अभक्त हृदय अनुसारा ॥"

इस बात को गीता में भगवान् स्वयं श्रीमुख से ही स्वीकार करते हैं कि-

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।' परन्तु
'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥"

गीता १६ । १७ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ (गी० १८।५६)

१६—वात्सल्य—

आश्रित के दोषों को भी गुण बुद्धि से देखना अथवा आश्रित में दोष दिखाई ही न पड़ना अर्थात् देखते हुये भी ध्याद न देना यथा —

'देखि दोष कबहुँ न उर आने ।'
'जन औगुन प्रभु मान न काऊ ।'

मानस ॥

'अपने देखे दोष राम न कबहुँ उर धरे ।'

(दोहावली)

'न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया'

वाल्मी० २ । १ । ११ ॥

जिस तरह गाय अपने सद्यः प्रसूत बच्चे के शरीर में लिपटे हुये मल को भोग्यरूप से स्वीकार करके (जिह्वासे चाट चाट कर) निर्मल कर देती है उसी प्रकार भगवान् आश्रित भक्तों के दोषों को स्वयं स्वीकार करके उसे निर्मल कर देते हैं । इस विषय

में पद्म पुराण का एक छोटा सा उदाहरण दे देना अनुचित न होगा।

एक बार श्री रामजी को मुनियों ने खबर दिया कि 'लङ्काधिपति विभीषण किसी कारण द्राविण ब्राह्मणों की कैद में है' सुनते ही पता लगाने स्वयं द्रविण देश में पहुँचे। पूछने पर ब्राह्मणों ने कहा कि इस दुष्ट राक्षस विभीषण ने राजमद में आकर एक वयः तपोवृद्ध ब्राह्मण को अकारण ही पद दलित करके मार डाला। इसी से हम लोगों ने उसे जञ्जीरों में जकड़ कर पृथ्वी में गाड़ दिया है। ब्रह्महत्या के पाप से उसकी सब शक्तियाँ क्षीण होगई हैं केवल आपके अमरत्व के वरदान से जीवित है। अब आप चक्रवर्ती राजराजेश्वर आगये हैं इस पापात्मा राक्षस का बध कर 'धर्म' की रक्षा कीजिये। सुनते ही भक्तवत्सल भगवान ने कहा कि हे ब्राह्मणों—

'वरं ममैवामरणं मद्भक्तौ हन्यते कथम् ?
राज्यमायुर्मयादत्तं तथैव स भविष्यति ॥
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते।
रामवाक्य द्विजा श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन् ॥

प० पु० पाताल खण्ड ॥

अर्थात् विभीषण को तो कल्पान्त लङ्का का अखण्ड राज्य तथा कल्पान्त ही का अजरामरत्व का मैं दान दे चुका हूँ अतः वह मर तो सकता ही नहीं, फिर वह तो मेरा भक्त है अतएव उसके मरने का प्रयोजन ही क्या है ? भक्त के लिये मरने को तो मैं स्वयं तैयार ही हूँ। क्योंकि—

'अतिही अयानो उपख़ानो नाहिं जाने लोग,
साहेब को गोत गोत होत है गुलाम को ॥'

·विनय पत्रिका ॥

के अनुसार स्वामी, सेवक का ऐक्य होने से सेवक का अपराध वास्तव में स्वामी का ही होता है। अतएव—

'बिगरे सेवक स्वान के साहब सिर गारी'।

वि० प०॥

के अनुसार सेवक के दोष का दण्ड भी स्वामी ही को मिलना न्याययुक्त है। अतः मेरे वात्सल्यभाजन विभीषण को स्वतन्त्र कर दीजिये और उसके बदले का दण्ड मुझे दीजिये।' श्रीरामजी के मुखारविन्द से 'भक्तवत्सलता का यह आदर्श-पूर्ण विवेचन सुनकर ब्राह्मण मण्डली आश्चर्यान्वित होकर धन्य धन्य कहने लगी'। मानसकार ने भी कहा है कि

'सरनागत बत्सल भगवाना'

१४—स्थैर्य—

कभी प्रतिज्ञा से च्युत न होना—

'प्रान जाइ बरु बचन न जाई।

'सत्य संध प्रभु सुर हितकारी॥'

मानस॥

'रामो द्विर्नाभिभाषते। 'सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः।'

वा० रा० १। १॥

१५—धैर्य—

कभी कम्पायमान न होना—

'अनेजदेकम्'

(यजुर्वेद० ४०। ४॥) ईश० उ० ४

'हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा।'

मानस॥

१६--शौर्य—

आश्रित के शत्रुओं में स्वबल का आतङ्कप्रवेशनसामर्थ्य-

'काल कालो गुणीसर्वविद्य: ।

श्वे० उ०

देखत बालक काल समाना ।
परम वीर धन्वीं गुनवाना ॥
'मुनि पालक खलसालक बालक ।''

मानस ॥

१७—दया—

(क) 'अनिर्हेतुकीय पर दुःख निवारणेच्छा दया'

अपने किसी प्रयोजन के बिना ही दूसरे के दुःख के निवारण की सद्भावना का नाम दया है । यथा—

'कबहुँक करि करुना नरदेही ।
देत ईस बिनहेतु सनेही ॥'
'सब पर मोरि बराबरि दाया ।

(ख) दूसरे को दुखी देखकर स्वयं दुखी हो जाने का नाम दया है । यथा—

'पर दुःख दुखी सुकृपा निकेता ।'
'कृपा वारिधर राम खरारि ॥
जेहि विधि सुखी होहिं पुर लोगा ।
करहिं कृपानिधि सोइ संयोगा ॥

मानस ॥

यही बात महर्षि श्री वाल्मीकी जी भी कहते हैं—

'व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ॥
दृष्टएव हि नः शोकमयनेष्यति राघवः ।
तमः सर्वस्य लोकस्य समुद्यन्निवभास्करः' ।

वा० रा० आ० का० २

१८—कृपा—

'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परोविभुः ।
इति सामर्थ्य संधानं कृपा सा परमेश्वरी ॥
स्वसामर्थ्यानुसंधानाधीना कालुष्यनाशनः ।
हार्दोभाव विशेषो यः सा कृपा जगदीश्वरी' ॥

भ० गु० द० ॥

अर्थात् सर्व प्राणियों की रक्षा करने में मैं ही एकमात्र परम समर्थ हूँ इस प्रकार अपने सामर्थ्य का अनुसंधान करके जीवों के हृदय में रहे हुये दोषों के नाश करने का जो हार्दिक भाव विशेष है उसीका नाम भगवत्कृपा है यथा—

'नरतन भव वारिधि कहँ बेरो ।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥'
'करौं सदा तिन्हकै रखवारी ।
जिमि बालकहिं राख महतारी ॥'
'कृपा वारिधर राम खरारी ।'

१६–अनुकम्पा—

'रक्षिताश्रित भक्तानामनुराग सुखेच्छया।
भूयोऽभीष्ट प्रदानाय यश्चतानन्नुधावति ॥
अनुकम्पा गुणो ह्येष प्रपन्न प्रियगोचरः।'

अर्थात् अपने आश्रित भक्तों को सुख प्राप्ति कराने की इच्छा से जो उनकी रक्षा करता है तथा उनके समस्त मनोरथों को पूर्ण करने के लिये जो सदा भक्तों के पीछे दौड़ लगाया करता है वह अपने भक्तों का प्रिय जो अनुकम्पागुण उसीका परिपक्व परिणाम है। यथा–

'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजंतमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

गीता,

'मम पून सरनागत भयहारी।'
'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे।
धरौं देह नहिं आन निहोरे।'

मानस ॥ पुनः

'अहं सीता च राज्यं च प्राणा निष्टान्धनानि च।
हृष्टो भात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः॥'

वा० रा० अ० का०

'अनुज राज संपति वैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥
सब मम प्रिय नहिं तुमहिं समाना॥'

२०—करुणा—

दुःख दुःखित्वमार्तानां सततं रक्षणेत्वरा ।
परदुःखानु संधानाद्विह्वली भवनं विभोः ॥
कारुण्याख्य गुणो ह्येष आर्तानां भीतिवारकः ।

अर्थात् आश्रित जनों की पीड़ा को दूर करने के लिए स्वामी के हृदय में जो उत्कण्ठा रहती है उसी का नाम करुणा है।

यथा—

अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रु पातासकृद्द्रवत् ।
कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्ति निवारणम् ॥'

'उमा राम मृदुचित करुणाकर'

'हृदय अनुग्रह इन्दु प्रकासा ।
सूचत किरन मनोहर हासा ॥

२१-क्षमा—

'अत्युग्रमनुजन्तूनामानुकूल्याति संग्रहात्
अत्युग्र निग्रहोदर्कं संकल्पोपरतिः क्षमाः ॥'

भावार्थ यह कि दंड देने की सामर्थ्य होते हुये भी अपना अपराध करने पर भी उन्हें दंड न देना।

'क्षिति क्षमावान् क्षतजोपमाक्षः'

वा० रा० कि०

'अपराधिहु पर कोप न काऊ'

'अपने देखे दोष राम न कबहुँ उरधरे ।
जेहि अघ बधेउ व्याध इव बाली ।
फिरि सुकण्ठ सोइ कीन्ह कुचाली ॥

सोइ करतूति बिभीषन केरी।
सपनेहु सो न राम हिय हेरी' ॥
'अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता।
छमहु छमा मन्दिर दोउ भ्राता
'विनयसील करुनागुन सागर'

२२—सौलभ्य-

'यं मनो न मनुते'
'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह'
'न स·दृशेतिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम ॥
श्रुतिः ॥

'न तु माँ शक्य से द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा'
गीता ॥

'मन समेत जेहि जान न बानी।
तर्कि न सकहिं सकल अनुमानी ॥

इत्यादि वचनों के अनुसार प्राकृत 'मन वचन चक्षु' इत्यादि इन्द्रियों के विषय न होने पर भी तत्तादिद्रियों के विषय बन कर भक्तजनों के नित्य समीपस्थ रहना भगवान् के सौलभ्यगुण की अधिकता है।

'नयन विषय मोकहँ भयेउ सो समस्त सुखमूल।'
अथवा 'नारायण : पर : साक्षाद्वैकुण्ठ निलय : सदा।
अर्चावतारतां प्राप्तो भक्तानां हित काम्यया ॥'

श्री भक्तिसार भरतजी द्विवेदी ने क्या ही मधुर शब्दों में कहा है कि—

'क्षुधार्तानां यस्यामपि पततिपादः क्रतुभुजां ।
न तेषां क्षुद्राणां श्रवण विषया तेऽपि पदभू :।।
कृते तेषां सत्वं भुवि जठर त्रासी बहुदिनं ।
विचित्रं सौलभ्यं तव रघुपते मोहयति न : ।।

श्री रघुपति सौलभ्य शतके ।।

२३—अवाप्त समस्त कामत्व—

'भोग लीलानुवर्ती रामो निरंकुश विभूतिक :'

सदाशि० सं०

उभय विभूति नायक होने से भगवान् सम्पूर्ण योग्य वस्तुओं से परिपूर्ण हैं। इसीलिये वे 'अवाप्त समस्त काम' कहे जाते हैं। अवाप्त काम होने से ही ब्रह्म में कभी भी (दूसरों की दृष्टि में) हर्ष-विषाद का कारण होने पर भी किसी प्रकार का विकार नहीं होता। यथा —

'राज सुनाइ दीन्ह बनवासू ।
सुनि हिय भयउ न हरष हरासू ।।'

'पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर ।
बिसमउ हरष न हृदय कछु पहिरे बल्कल चीर ।।'

'नाहिन राम राज्य के भूखे ।
धर्म धुरीन विषय रस रूखे ।।'

'लोभ न रामहिं राजकर'

मानस ।।

'नमे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

गीता ० ॥

'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा,
न मम्ले वनवास दुःखतः ।
मुखाम्बुज श्रीरघुनन्दनस्य मे,
सदास्तुसा मंजुल मंगल प्रदा ॥'

मानस ॥

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति ।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः ॥
न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुंधराम् ।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्त विक्रिया ॥
सर्वो ह्यभिजनः श्रीमान् श्रीमतः सत्यवादिनः ।
नालक्षयत रामस्य कंचिदाकारमानने ॥

वा० रा०

८४—स्वामित्व—

अपने से अतिरिक्त वस्तुमात्र में यह मेरा है, इस ममत्वाभिमान को 'स्वामित्व' कहते हैं।

'मम माया संभव संसारा ।
जीव चराचर विविधि प्रकारा ॥'
'सब मम प्रिय सब मम उपजाये ।'

२५—समाधिकारहितत्व—

'रामस्य पुरुषो लोके सत्यधर्म यशोगुणैः ।
समो न विद्यते कश्चिद्विशिष्ठः कुत एवतु ॥

राम परत्वे ॥

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'

श्वे० उ०

'न तस्य प्रतिमास्ति,

यजु० वे० ३२ । ३ ॥

'जाके सम अतिशय नहिं कोई'
'को रघुबीर सरिस संसारा,
को खगेस रघुपति समलेखौं'

मानस ॥

२६—अनुग्रहत्व—

मां हि पार्थं व्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपियान्ति परांगतिम् ॥

गी० ६ । ३२ ॥

'शवरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ ।'
'कोटि विप्र बध लागै जाहू ।
आये सरन तजौं नहिं ताहू ॥

मानस ॥

कैसहु पामर पातकी जेहि लई नामकी ओट ।
गांठी बाँध्यो राम सो परख्यो न फेरि खरखोट ॥

दोहावली ॥

२७—सौहार्द—

'न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विशिष्टानपिनो वनौकसश्चकारसख्येवत लक्ष्मणाग्रजः।

भाग० ६॥

'अति कोमल रघुबीर स्वभाऊ।
यद्यपि अखिल लोक कर राऊ॥'
'वेद बचन मुनिमन अगम,
ते प्रभु करुना ऐन।
वचन किरातन के सुनत,
जिमि पितु बालक बैन॥'

मानस॥

'केवट मीत कहे सुख मानत वानर बन्धु बड़ाई॥'

वि० प०॥

२८—आर्जव—

'सहज सुभाव न मन कुटिलाई'

यह आर्जव का लक्षण है अर्थात् मन क्रम और बचन की अकुटिलता या समता किंवा निष्कपटताको आर्जव कहा जाता है। यथा श्रीरामजी में—

'सरल सुभाव छुवाछल नाहीं।'
'सहज सरल रघुवर बचन॥'

२६ – मार्दव —

आश्रित का विरह न सहना-

'सहि न सकत आश्रित विरह एकौ चण रघुबीर।'
'जिन्हहिं न सपनेहु दुख कबहुं सोउ जन दुखहिं अधीर (ले०)
'तव दुख दुखी सो कृपा निकेता।'

३०—माधुर्य—

जो धारोष्ण दूध में (बिना कुछ मिष्ट पदार्थ सम्मिश्रण के ही) स्वाभाविक एक अद्भुत मिठास है उसे प्राकृत माधुर्य कह सकते हैं वैसे भगवान् के सच्चिदानन्दमय दिव्यमंगल विग्रह में एक दिव्य माधुर्य है जिसको देखकर देखने वालों का चित्त आकर्षित हो जाता है, और उस मधुर रस के न मिलने पर उसे सब कुछ तुच्छ एवं फीका लगने लगता है यथा—

'ते नहिं गनहिं खगेश। ब्रह्म सुखहिं सज्जन सुमति'
'रूपोदार्यगुणैः पुंसां दृष्टि चित्तापहारकः।
'मूरति मधुर मनोहर देखी। भये विदेह- विदेह विशेषी॥'
'हरहित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।'
'मुनि समूह महँ बैठे, सन्मुख सबकी ओर।
शरद इन्दु तन चितवत मानहु निकर चकोर॥"

३१—कृतज्ञत्व—

अपने या अपने आश्रितों के प्रति किसी के द्वारा कुछ भी उपकार हो जाय तो सदैव उसका आभार मानते हुये उससे प्रसन्न रहना।

'कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।'
वा० रा० अ०॥

'तुम रीझहु सनेह सुठि थोरे'

'तुम्हरे बल मैं रावन मार्यो,
तिलक विभीषन कहं पुनि सार्यो ॥'

'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भये समर सागर कहँ बेरे ॥'

'ममहित लागि जनम इन्ह हारे।
भरतहुते मोहिं अधिक पियारे ॥'

यह तो परम कृतज्ञ श्रीरामजी का कहना बानरों के लिये है। परन्तु बानरगण तो जानते और कहते ही हैं कि—

'सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं।
मसक कबहुँ खगपति हित करहीं ॥'

३२—भक्तदोषादर्शनत्व—

'न गणत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।'

वा० रा० अ०

'देखि दोष कबहु न उर आने।'

'रहति न प्रभु चित चूक किये की ॥'

मानस ॥

३३—भक्तपक्षपातित्व—

'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥'

गी० ६।३१॥

'तातें नास न होहि दास कर।'

'कबहूँ काल न व्यापिहिं तोहीं ॥'

मानस ॥

३४—भक्तप्रियत्व—

न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तोश्वपचो प्रियः।
'भक्तिवंत अतिनीचौ प्राणी।
मोहि प्राण प्रिय असि मम वाणी।।'

३५—शरण्यत्व—

सर्वलोक शरण्याय राघवाय महात्मने।'
'मित्र भावेन संप्राप्तं नत्यजेयं कथंचन।।'
'दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्।।'

वा० रा० यु०।।

'सरन गये प्रभुताहु न त्यागा,
विश्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा।।'
'जो सभीत आवा सरनाई।
रखिहउँ ताहि प्रान की नाई।'
'सरन गये मोते अघरासी।
होंहि सुद्ध नमामि अविनासी।।'

मानस।।

३६—सर्व प्रियत्व—

'सर्वलोकप्रियः'

केचास्यधंव कैचयि पशुव्याल मृग द्विजान्।
गच्छतः सहरामेण पादपाँवतदुन्मुखान्।।'

वा० रा०।।

'प्रानहु ते प्रिय लागहिं सब कहँ राम कृपाल ।

'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि पानी ।'

'जिन्हहिं निरखि मग साँपनि बीछी ।
तजहिं विषमविष तामस तीछी ॥

'फिरत अहेर राम छबि देखी ।
होहिं मुदित मृगवृन्द विसेषी ॥'

'खग मृग मुदित देखि छबि होहीं ।
लिये चोरि चित राम बटोही ॥'

'वृन्दशो ब्रजवृष मृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात् ।
दन्त दष्ट कवला धृतकर्णा निद्रिता लिखित चित्रमिवासन् ॥

भाग० १०। ३५।५।

३७--ज्ञानानन्दमयत्व--

अन्य गुणों की तरह ज्ञान और आनन्द भी परमात्मा का का गुण है अर्थात वह परमात्मा ज्ञानानन्द गुणवाला है। आनन्द उस गुण का नाम है जो सर्वथा अपने अनुकूल हो और ज्ञान वह कहा जाता है जो स्वयं प्रकाश हो अर्थात जिसका प्रकाश न किसी अन्य के आधीन न हो। जीवों का ज्ञान और आनन्द पृथक् पृथक् दो पदार्थ है परन्तु कहने में दो मालूम पड़ने पर ईश्वर का ज्ञान और आनन्द पृथक् पृथक् दो पदार्थ नहीं हैं किन्तु ईश्वर का ज्ञान ही ईश्वर के अत्यन्त अनुकूल होने से आनन्द स्वरूप है।

'रसो वै सः' 'रसंह्येवायंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।'

ते० उ० २।७।२॥

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् ॥ न विभेति कदाचन'
तै० उ० २।४।१॥

'शुद्ध सच्चिदानन्दमय रामभानु कुल केतु ।'
'चिदानन्द मय देह तुम्हारी ।'
'जो आनन्द सिन्धु सुखरासी ।
'ज्ञान अखण्ड एक सीतावर ॥'

३८--निरीहत्व—

ईहा कहते हैं इच्छा को। किसी पदार्थ के लिये कभी कुछ भी इच्छा न उठने का नाम निरीहता है। भाव यह है कि इच्छा तो अप्राप्त वस्तुओं के निमित्त की जाती है और ईश्वर के लिये तो कुछ भी अप्राप्त वस्तु नहीं है तब वह किसकी इच्छा करे।

'ब्रह्म निरीह विरज अविनाशी ।'
'निरीह मीश्वरं विभुम् ।'

३९—अन्तर्यामित्व—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'
गी० १८।६१

'सब के उर अन्तर बसहु जानहु भाव कुभाव ।'
'अन्यर्यामी रामसिय'
'प्रभु जानत सब बिनहिं जनाये ।'

प्रश्न हो सकता है कि अन्तर्यामी होने से जीवगत दोष ईश्वर में भी आ जाते होंगे ? क्योंकि देखने में आता है कि जो जिसमें रहता है उसके दोष एवं गुण उसमें आही जाते हैं अतः ईश्वर को अन्तर्यामी मानने से उसमें भी दोष आना

अनिवार्य हो जावेगा। इस संभावित शङ्का का समाधान इस तरह समझना चाहिये कि शरीरगत बाल्यत्व, यौवनत्व, स्थविरत्व, स्थूलत्व, पीनत्व, कृशत्व, गौरत्व, श्यामत्व आदिक विचार शरीर में रहते हुये भी जीवात्मा में नहीं आते वैसे चराचर मात्र में भगवान रहते तो हैं परन्तु उनके गुण दोषों से वे सर्वथा रहित ही रहते है। यथा—

'अस प्रभु हृदय अछत अविकारी'
'रवि सन्मुखतम कबहुँ कि जाहीं।'

प्रश्न-

यद्यपि शरीरगत अवस्थादि दोष जीव में नहीं आते परन्तु शरीर सम्बन्धी सुख दुखादि की प्रतीति तो जीवात्मा को होती ही है। इसी तरह जीवगत दोष ईश्वर में भले ही आते न हों परन्तु उसके संसर्ग से होने वाली सुख दुखादि की जो प्रतीति तद्रूप दोष तो सर्वान्तर्यामी होने से ईश्वर में अवश्य आजाता होगा ?

उत्तर-

यह दोष भी ईश्वर में नहीं आता क्योंकि जीव तो अपने कर्मफल भोग के लिये ईश्वर के संकल्प द्वारा शरीर में प्रवेश कराया जाता है इसी से शरीरगत सुख दुखादि का अनुभव जीव करता है परन्तु ईश्वर तो फल भोगने की इच्छा से रहता ही नहीं उसका रहना तो स्वाभाविक ही होता है इसी से-

'कर्म शुभाशुभ तुमहिं न बाधा'

कहा गया है और जीव ईश्वर के शरीरगत फल भोग का विवरण करते हुये श्रुति भी यही कहती है कि—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्योऽभिचाकशीति ॥'

श्वे० उ० ४।६ ॥

४०—सर्वनियामकत्व-

'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां।'

श्वे० ३।११।२० ॥

'य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय'

श्वे० ६।१७ ॥

'भ्रामयन्सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया'

गीता ॥

'उरप्रेरक रघुबंस विभूषन'

'राम रजाय सीस सबही के।'

प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई।
सो तेहि भाँति रहे सुख लहई ॥

'जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ।'

'राम रजाय मेटि मनमाहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं'

४१ – ज्ञान –

अजड स्वात्म संबोधि नित्यं सर्वावगाहनम्।
ज्ञानं नामगुणं प्राहुः प्रथमं गुणचिन्तकाः ॥

भ० गु० द० ॥

सर्व वस्तु को साक्षात्कार रूप से देखना यथा –

'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयतपः ॥

मु० उ० १।१।६ ॥

'प्रभु जानत सब बिनहिं जनाये ।
'ज्ञान अखण्ड एक सीतावर ।'

४२—शक्ति—

'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं सामर्थ्यं शक्तिः ।'
जगत्प्रकृति भावोयः साशक्तिः परिकीर्तिता ।'

भ० गु० द० ॥

अर्थात् अघटिता घटना पटीयसी सामर्थ्य का नाम शक्ति है ।

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते '

श्वे० उ० ६ । ८ ॥

उँ योवै श्री रामचन्द्रः स भगवान यो ब्रह्मा विष्णुरीश्वरः सर्व देवात्मा'

अथर्व वेद ॥ ए० ता०

'अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता ।'
'प्रभु समर्थ कौशल पुर राजा ।'

४३—बल—

संहार या धारण सामर्थ्य को बल कहा जाता है । यथा—

'संहृत्य वा पुनर्लोकान् विक्रमेण महायशाः ।
शक्तः स पुरुष व्याघ्रः स्रष्टुं पुनरपि प्रजा ॥

वा० रा० ॥

श्रम हानिस्तु सततं हितं कुर्वतो जगत् ।
बलन्नाम गुणास्तस्य कथितो गुण चिन्तकैः ।

भ० गु० द० ॥

'राम तेज बल बुधि विपुलाई।
शेष सहस शत सकहिं न गाई।'
'एक शर एक सोखि सत सागर'
'प्रभु एक त्रिभुवन मारि जिआई'
'मरुत कोटिशत विपुल बल'
'रूद्र कोटि शत सम संहर्ता'

४४—ऐश्वर्यं—

कर्तृत्वं नाम यत्तस्य स्वातंत्र्यं परिबृंहितम्।
ऐश्वर्यन्नाम तत्प्रोक्तं गुणतत्वार्थ चिन्तकैः॥'

भ० गु० द०।

नियमन सामर्थ्यं एवं
'विभूतिर्भूतिरैश्वर्य'

अमर कोष॥

के अनुसार विभूति (संपत्ति आदि) को ऐश्वर्य कहा जाता है।

'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।'

गी० १०।४२॥

'रोम रोम प्रति लागेउ कोटि कोटि ब्रह्मण्ड'
'सप्तभूमि सागर मेखला।
एक भूप रघुपति कौसला॥'
'भुवन अनेक रोम प्रति जासू।
यह प्रभुता कछु बहुत न तासू।'

'मम उदरभुवन अनेक.....'

'राम रजाय शीस सबही के।'

'निमिषि मांझ ब्रह्माण्ड निकाया।

रचै जासु अनुसासन माया॥'

४५--तेज—

'पराभिभवन सामर्थ्यं तेजः, यद्वा—

'सहकार्यनपेक्षा यत्तेजाः समुदाहृतः।'

'दुष्प्रेक्षत्वं येन स्यात्तत्तेजः।'

पर—अभिभव=दूसरे को भयान्वित करने किंवा पराजित कर देनेवाले सामर्थ्य का नाम तेज है।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

क० उ० २।६।३।

'जाके डर अति काल डराई।'

मानस॥

४६—वीर्य—

तस्योपादानभावेऽपि विकार रहितो हि यः।

वीर्यं नाम गुणः सोऽयमच्युतत्वा पराह्वयः॥

भ० गु० द०॥

किंवा-पालनशक्ति का नाम वीर्य है। यथा—

'विष्णुनासदृशो वीर्ये।'

'कोटि विष्णुसम पालन कर्ता।'

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम् ।
यः पार्थिवानि विममे रजांसि' ॥

ऋग्वेद १। १५४। १॥ अथर्व वेद ७। २६। १ शुक्लयजु० ५। १८ ॥ तै०सं०१। २। १३। २॥

४७-औदार्य-

बहुत देने पर भी दान से अतृप्त ही रहना औदार्य कहा जाता है—

"आजु देउं सब संशय नाहीं।
मांगु जो तोहि भाव मनमाहीं॥'
'सुन्दर अगम सुगम वरदायक'
'यथा अनन्त राम भगवाना।
तथा कथा कीरति गुननाना'।

अर्थात् जैसे भगवान् श्रीरामजी स्वरूप से अनन्त हैं अर्थात्

'सर्वव्यापी' च राघवः'।

इस अथर्वण की श्रुति के अनुसार सर्वव्यापक होने से देशावच्छिन्न नहीं हैं; नित्य होने से कालावच्छिन्न नहीं हैं और-

"जगत् सर्वं शरीरं ते"।

इति वा० रा०

के अनुसार सर्व शरीरी होने से वस्त्वच्छिन्न नहीं हैं। यथा-

'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्'
'यस्यात्मा शरीरं'

'यस्य पृथिवी शरीरं'
'यस्य सर्वं शरीरं'

इत्यादि— श्रुति॥ एवं

'देश काल दिशि विदिशहु माहीं।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं'॥
'हरि व्यापक सर्वत्र समाना'
'विश्वरूप रघुवंसमनि'।
'लोक कल्पना वेद कह अंगअंग प्रति जासु।'

वैसे (भगवान् श्रीरामजी की तरह) भगवान् श्रीरामजी के नाम, रूप, गुण, लीला बिभूति आदि सब कुछ अनन्त हैं—

'राम अमित गुणसागर थाहकि पावइ कोइ'।
'सुगम अगम नाना चरित॥'

भगवान् के जितने गुण हैं वे सब—

'त इमे सत्याः कामः'।

इस श्रुति के अनुसार नित्य हैं और निरूपाधिक हैं। स्मरण रखना चाहिये कि अन्य सच्छास्त्रों की तरह श्री गोस्वामी जी का भी यही सिद्धान्त है कि ब्रह्म सदैव दिव्यगुण और दिव्याकार विशिष्ट ही रहता है इसीसे आपने ब्रह्म के लिये—

'शुद्ध सच्चिदानन्दमय राम भानुकुल केतु'।
'राम सच्चिदानन्द दिनेसा'
'सोऽ सच्चिदानन्द घनरामा।
अज विज्ञान रूप गुनधामा॥

'चिदानन्दमय देह तुम्हारी ।
रहित विकार जान अधिकारी ॥'

आदि कहा है । यदि मायावादियों की तरह ब्रह्मवादी श्री गोस्वामी जी भी ब्रह्म को निर्विशेष चिन्मात्र मानते तो उपरोक्त प्रकार से कदापि न कहते । और जो कहीं कहीं—

'निर्गुण निराकार निर्मोहा ।'

आदि कहा है वहाँ सर्वथा गुणहीन (मूर्ख-बेवकूफ) ब्रह्म को कहने का तात्पर्य नहीं है प्रत्युत वहाँ वहाँ निर्गुण से तात्पर्य प्रकृति जन्य हेयगुण रहित होने में और निराकार से तात्पर्य्य प्राकृत आकार रहित होने में है । और तभी—

'गुणधामा'

'चिदानन्दमय देह तुम्हारी ।
रहित विकार जान अधिकारी ।'

आदि कहना यथार्थ रूप से संघटित हो सकता है अन्यथा नहीं ।

यद्यपि श्रुतियों में जीवात्माओं के लिये भी दिव्य गुणों का निर्देश किया गया है परन्तु उसकी प्राप्ति में कारण ईश्वर की इच्छारूप उपाधि रहती है । इसीलिये जीव के गुण निरुपाधिक नहीं कहे जा सकते हैं । और ब्रह्म के कोई भी गुण आगन्तुक अर्थात् कहीं अन्यत्र से आये हुये नहीं हैं । उसके सब गुण स्वाभाविक हैं । अन्यत्र से प्राप्त वस्तु स्वाभाविक नहीं कही जा सकती । ईश्वर के गुणों को श्रुति स्वाभाविक कहती है यथा—

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च।'

श्वे० उ० ६।८॥

यह नियम है कि जो चीज किसी के स्वाभाविक एवं निरुपाधिक रहती है वह दूसरों के उपभोग के लिये ही होती है। जिसकी है उसके उपभोग में नहीं आती। इसी नियमानुसार भगवान् के अनेकों दिव्य गुण भगवान् के लिये नहीं हैं। भगवदाश्रितों के लिये ही हैं। भगवान् अपने अनेकों गुणों में से कुछ तो अपने आश्रितों पर प्रगट करते हैं जैसे कि—क्षमा, दया, वात्सल्य और सौशील्य" आदि और कुछ जैसे शौर्य्य, वीर्य्यादि अपने आश्रित विरोधियों पर—क्योंकि भगवान् के अपना तो कोई शत्रु ही नहीं है।

'सब मम प्रिय सब मम उपजाये।'
'सब पर मोरि बराबरि दाया।'

के अनुसार परन्तु—

द्विषदन्नं नभोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत्।
पाण्डवान्द्विषसे राजन् मम प्राणाहि पाण्डवाः॥

म० भा० उ० पा०

इस प्रतिज्ञा के अनुसार अपने आश्रित के शत्रु ही भगवान् के शत्रु हैं। गोस्वामी जी ने कवितावली में भी कहा है कि—

'और कहा कहौं सीय हरि तबहुँ करुना करि कोप न धार्‌यो।
तौ लौं न दाप दल्यो दसकंधर जौलौं विभीषन लात न मार्‌यो'॥

अतः भगवान् के गुणों का अनुसंधान करने के लिये पूर्वाचार्यों ने इस तरह निर्देश किया है कि आश्रित भक्त अपने हृदय में ऐसा निश्चय करता रहे कि—जैसे भगवान स्वयं निकृष्ट

गुण रहित और दिव्य गुण विशिष्ट हैं कृपा करके वैसे मुझे भी कर देंगे। जान रखना चाहिये कि जैसे चन्दन के संसर्ग से दूसरे वृक्ष चन्दन तो हो जाते हैं परन्तु अन्य वृक्षों को चन्दन नहीं बना सकते वैसे नित्यमुक्त जीव भी अन्य बद्ध जीवों को भगवत्संकल्प व्यतिरेक स्वयं अपने समान मुक्त नहीं बना सकते। यह तो भगवान ही की शक्ति है ॥१॥

भगवान् तो सब तरह से अनन्त हैं। उनका तो—

'तात कबहुँ कोउ पावकि थाहा। तोभी

'निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं।

निगम सेष सिव पार न पावहिं ॥'

के अनुसार भगवत्प्रदत्त शक्ति के अनुकूल भगवान के स्वरूप रूपगुण चरित्र विभूति आदि के श्रवण मनन निदिध्यासन (चिन्तन) पूर्वक कालक्षेप करना चाहिये ॥२॥

भगवान सर्वान्तर्यामी हैं, वे (सब के तथा) मेरे प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक कार्यों के साक्षी रहते हैं। इसलिये मुझे (किसी को भी) किसी प्रकार के निषिद्ध कर्मों का मन से चिन्तन तथा शरीर और बचन से व्यवहार में न लाना चाहिये ॥३॥

भगवान् सर्व नियंता और स्वतन्त्र हैं। मेरे लिये जो उचित होगा स्वयं करेंगे ही अतः मुझे किसी प्रकार का तर्क वितर्क न करके उनका स्मरण ही करते रहना चाहिये यथा—

'होइहै सोइ जो राम रचिराखा।

को करि तर्क बढ़ावै साखा' ॥

अतएव **'(असकहि) जपन लगे हरिनामा'** ॥४॥

भगवान विभु—व्यापक हैं; अतः उपासक के लिये किसी तरह के भी देश कालादिकों के बन्धन नहीं हैं। चाहे जिस देश के जिस काल में और जिस अवस्था में रहते हुये भगवत्स्मरणादि कर सकता है सच्ची लगन हाने से तो भगवत्प्राप्ति अनिवार्य हो है। भगवत्कृपा तो सभी जगह रहती ही है। श्री शिव ी के निम्न वाक्य का यही आशय है—

'हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम ते प्रगट होहिं मैं ज्ञाना'। तथा—

'अग जगमय सब रहित विरागी।
प्रेम तें प्रभु प्रगटें जिमि आगी ॥५॥

भगवान् सर्व प्रकाशक हैं, जीव में जो कुछ भी बुद्धि विद्या ज्ञानादि का विकास हुआ व होता है वह भगवत्कृपा द्वारा ही हुआ और होता है। इसलिये जीव को कभी विद्या बुद्धि आदि का अभिमान न करना चाहिये, किन्तु उसका सदुपयोग भगवद् भागवत के कार्य में करना चाहिये, प्रकृति के कार्य में नहीं ॥६॥

सर्व प्रकाश करने वाले भगवान् सदा स्वयं प्रकाशमान हैं। इसलिये वे कभी भी अविद्यादि से ग्रस्त नहीं होते यथा—

'रविसन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं।' अतः
'सहज प्रकास रूप भगवाना।
नहिं तहँ पुनि विग्यान बिहाना ॥'

अतएव यह समझ रखना चाहिये कि ब्रह्म कभी भी अज्ञान अविद्या के कारण अशुद्ध होकर जीव नहीं बनता तो ब्रह्म में तो मोहवश होकर कभी अज्ञानादि की कल्पना ही न करनी चाहिये।

श्री शिवजी ने ही कहा है—

'उमा राम विषयक असमोहा ।
नभ तम धूरि धूमजिमि सोहा ॥'
'प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ।' ॥७॥

यद्यपि कि मैं दीन, हीन, मलीन और कुत्सित हूँ तो भी कुछ चिन्ता नहीं क्योंकि श्री रामजी अपने सौशील्य गुण के कारण मेरी ओर कृपादृष्टि से देखेंगे, मेरी करुण कथाको सुनेंगे और कभी न कभी मुझसे प्यार भरे शब्दों में बोलेंगे यथा—

"कूर कुटिल खल कुमति कलंकी ।
नीच निसील निरीस निसंकी ॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आये ।
सकृत प्रनाम किये अपनाये ॥' ॥८॥

भगवान् की प्रतिज्ञा है कि—

'सबमम प्रिय सब मम उपजाये'
'सब पर मोरि बराबरि दाया ॥'

अतः यह न समझना चाहिये कि भगवान् तो केवल उत्तम कुल—प्रसूत, ज्ञानी, गुणी आदि के लिये ही हैं। मैंने तो अपने पूर्व कर्मानुसार नीच कुल में जन्म पाया है, मेरे ज्ञान नहीं विद्या नहीं धन, बल गुणादि भी नहीं तो परमात्मा मुझे कैसे अपनायेंगे ? परन्तु यह समझना चाहिये कि भगवान् तो साम्य गुण वाले हैं, जब अनन्त जीवों को शरण देते हैं तो मुझे भी (चाहे मैं जैसा होऊँ) अपनायेंगे ही अतः —

सरन गये प्रभुताहु न त्यागा ।
बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा ॥

जनि डरपहि तोसे अनेक खल अपनाये जानकीनाथ ।'

विनय प० ।।६।।

मैंने प्रभु के देखते-देखते बड़े-बड़े अपराध किये हैं जिनका कि कठोर से कठोर दण्ड हो सकता है किन्तु भगवान् अपने वात्सल्य गुण से मेरे दोषों को दूर कर ही देंगे क्योंकि—

'मैं जानहुँ निज नाथ सुभाऊ।
अपराधिहुं पर कोप न काऊ ।। १० ।।

दृढ़ प्रतिज्ञ भगवान् प्रतिज्ञा तो कर ही चुके हैं कि—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' ।।

वा० रा० यु० १८ ।।

'सम्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं।
जनम कोटि अघ नाशौं तबहीं' ।।

अतः जब मैं भगवान् का कहा ही चुका कि—

'होहुँ कहावत सब कहत राम सहत उपहास।
साहेब सीतानाथ से सेवक तुलसीदास ❀ ।।'

तो भगवान् अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मेरा सर्वप्रकार से हित करेंगे ही यथा—

"तुलसी झूठेउ भगत की पति राखत भगवान्।
ज्यों मुरुख उपरोहित हि देत दान जजमान ।।"

।।११।।

❀'तुरीयो रघुनन्दनः' के अनुसार 'तु' से तुरीय श्री रामजी 'ल' से श्री लक्ष्मण जी 'सी' से श्री सीताजी तत्वतः अभेद होने से तीनों का दास मैं ।।

मेरे काम, क्रोधादि शत्रुओं का संहार प्रभु अपने शौर्य गुण से कर ही देंगे। ॥१२॥

भगवान् अपने दया, कृपा, करुणा, अनुकम्पा आदि गुणों के द्वारा मेरा उद्धार अवश्य ही कर देंगे। यद्यपि मुझमें किसी प्रकार के साधन नहीं हैं तो भी कुछ हानि नहीं है—

'मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं।
भगति न विरति ज्ञान मनमाहीं॥'

'नहिं सत्सङ्ग योग जप यागा।
नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥

'यद्यपि मैं अनभल अपराधी।'
'तदपि सरन सन्मुख मोहि देखी॥
छमि सब करिहहिं कृपा विसेषी।'

कारण कि—

'सील सकुचि सुठि सरल सुभाऊ।
कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
॥१३॥

हमारे जैसे साधन हीनों को भगवान् परम दुर्लभ हैं ऐसी चिन्ता मुझको कभी न करनी चाहिये क्योंकि भगवान् में सौलभ्य गुण है। यदि वे मुझे न प्राप्त होंगे तो उनके सौलभ्य गुण पर पानी फिरते कितनी देर? ॥१४॥

भगवान् की सांग पूजा करने के लिये मेरे पास धन नहीं है तो क्या हुआ ये तो अवाप्त समस्त काम हैं—उन्हें तो कुछ चाहिये ही नहीं क्योंकि उनके पास कुछ कमी ही नहीं है?

'रत्नाकरोऽस्ति सदनं गृहिणी च पद्मा,
किं देयमस्ति भवते परमेश्वराय ॥'

(रहीम)

सेवकि जासु रमाधर की। (कवितावली)
'बलि पूजा चाहैं नहीं।'

विनय ॥ अतः

जो इच्छा करिहौं मनमाहीं।
प्रभु प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं ॥'

श्रीमुखवाणी ही है कि—

जन कहँ नहिं अदेय कछु मोरे।
अस विस्वास तजहु जनि भोरे ॥'

।॥१५॥

भगवान् सब के स्वामी-शेषो हैं। नियम ही है कि जो जिसका स्वामी होता है वह उसका रक्षण सार सँभार करता ही है। वैसे भगवान् मेरा सार सँभार करेंगे ही, नष्ट तो होने ही न देंगे—

'तनु धन धाम रामहितकारी।
सब विधि तुम प्रनतारति हारी ॥'

।।१६॥

जगत् की माधुरी नकली माधुरी है। दिव्य माधुरी तो भगवान् में ही है। उसे ही पाने के लिये व्यग्र रहने वालों को ही भगवान् अपने दिव्य माधुर्य रसका पान कराते हैं जैसे कि महर्षि वाल्मीकिजी ने कहा था कि—

'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु उर सो राउर निज गेह॥'

'जाति पाँति धन धर्म बड़ाई।
प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुमहिं रहहि लवलाई।
तिनके हृदय बसहु रघुराई॥'

॥१७॥

भगवान् बड़े उदार हैं--

'सुनहु उदार परम रघुनायक।
सुन्दर अगम सुगम वरदायक॥'

अतः मेरे योग्य भी यथेष्ट पदार्थ देंगे ही क्योंकि जनके लिये तो उनकी प्रतिज्ञा ही है कि--

'जनकहँ कछु अदेय नहिं मोरे।'
'आजु देंउ सब संसय नाहीं।
माँगु जो तोहिं भाव मनमांही॥'

अतः हमें किसी वस्तु की चिन्ता में पड़कर उनको विस्मृत न कर देना चाहिये।

॥१८॥

'नालंद्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वाऽसुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न व्रत न बहुज्ञता॥'

भा॰ ७

के अनुसार भगवान की प्रसन्नता में कोई हेतु नहीं है। वे तो अपने सौहार्द्र गुण से ही जीवों पर प्रसन्न होते हैं क्योंकि उनका सौहार्द्र गुण ही ऐसा है कि –

'द्विजत्वाद्यनपेक्षेण येनसाध्यो हरिः पुरा।
गुणेन ह्यगुणास्तस्य सौहार्द्रं परमं हरेः ॥१॥
स्वप्रीतेः स्वप्रपत्तेश्च कारणं करुणांबुधेः।
हेत्वन्तरानपेक्षंहि सौहार्द्रं परमं हरेः ॥२॥
भ० गु० द० ॥

निस्वार्थ भाव से दूसरे की भलाई करने वाले तो भगवत् भागवत् ही हैं। यथा—

'हेतु रहित जगजुग उपकारी।
तुम तुम्हार सेवक असुरारी ॥'
॥१६॥

भगवान् किसी का किया हुआ यदि किंचित् मात्र भी उपकार हो उसे कभी नहीं भूलते ऐसे कृतज्ञ हैं। परन्तु उनके साथ कोई उपकार ही क्या कर सकता है। क्योंकि वे तो स्वयं ही 'प्रभु समर्थ कौशल पुर राजा' हैं किन्तु—

'जगत्सर्वं शरीरं ते'
'विश्वरूप रघुवंशमणि'

के अनुसार सारा जगत् ही प्रभु का शरीर है। अतः प्राणी-मात्र के साथ उपकार करना ही प्रभु के साथ उपकार करना है। इसीसे भगवान परम प्रसन्न होते हैं। स्वयं ही श्रीमुख से कहते हैं कि—

'यहि आचरण बश्य मैं भाई॥'
॥२०॥

जब भगवान् स्वयं ही अपने भक्तों का अपराध नहीं देखते तो दूसरे को क्या अधिकार है कि वह भगवद्भक्तों में

मक्षिका दृष्टि से अपराध ही ढूंढता फिरे। भक्तों में अपराध ढूंढने वाला ही प्रभु का अपराधी है। जब भगवान् सब को शरण देते हैं तो अवश्य ही—

'सरन गये मोते अघरासी।
होहिं सुद्ध नमामि अविनासी॥'

॥२१॥

अपने हिताहित के निर्णय का ज्ञान मुझमें नहीं है तो भी कुछ हानि नहीं है क्योंकि—

'क्वाहमत्यन्तदुर्बुद्धिः क्वचात्महितवीक्षणम्।
यद्धितं मम देवेश तदाज्ञापय माधव॥'

के अनुसार अपने ज्ञान के द्वारा भगवान ही मेरे हिताहित का निर्णय करके तदनुरूप कार्य करेंगे इसीसे—

'(तुलसी) रहत निसोच राज ज्यों बालक माय बबाके'

॥२२॥

भगवान स्वयं आनन्दगुण वाले हैं और भगवत्कृपा ही से सबको सब प्रकार का आनन्द मिल सकता है अतः उसी ब्रह्मानन्द प्राप्ति के लिये सतत काल चिन्तन करना चाहिये कि जिसके प्राप्त होजाने पर—

'रसोह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'
'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन'

तै० आनं० ॥२३॥

संसार में भगवान् के अतिरिक्त सभी—

स्वारथ मीत सकल जगमाहीं।

हैं परन्तु भगवान तो निरीह हैं, कभी कुछ 'इच्छा ही नहीं

करते अतः हमें चाहिये कि जीवों पर निस्स्वार्थ कृपा करने वाले केवल प्रभु के साथ ही उनकी—

'सब कै ममता ताग बटोरी ।
मम पद मनहिं बाँध बरिडोरी ॥'

इस आज्ञानुसार एकमात्र प्रेम करना चाहिये अथवा ऐसा समझें कि भगवान निरीह हैं वे संसार के जीवों की तरह भेंट पूजा (घूस नजराना) लेकर प्रसन्न होने वाले नहीं हैं। किन्तु वे तो केवल हार्दिक प्रेम मात्र से ही प्रसन्न होते हैं। यथा—

'बलि पूजा चाहैं नहीं, चाहैं एक प्रीति ।
सुमिरत ही मानैं भलो पावन सब रीति' ॥

वि० प० ॥

इसी से गोस्वामीजी ने विनय पत्रिका में और भी साफ शब्दों में कह दिया कि—

'जौं जप जाग जोग व्रत वर्जित केवल प्रेम न चहते ।
तौं कत सुर मुनिवर विहाय व्रज गोपगेह बसि रहते ॥'

वि० प०

कोई भी हृदय के सच्चे प्रेम से कुछ भी अर्पण करे उसे ही भगवान् सादर ग्रहण करलेते हैं ऐसी ही उनकी प्रतिज्ञा भी तो है कि—

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं योमे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः' ॥

गीता ॥ ॥ २४ ॥

मोह की प्रबलता से मन सर्वप्रिय भगवान की ओर से हटकर मायिक पदार्थों को प्रिय समझ कर उन्हीं में आसक्त होजाता है। अतः—

'तुलसिदास मद मोह शृंखला बनिहि तुम्हारेहि छोरे'।
के अनुसार इस मोह को नाश करके स्वयं भगवान् ही अपने से यदि जीव को प्रिय लगने लगें तभी जीव का कल्याण हो सकता है। परन्तु—

'आवै सरन जो (तव) तजि मद माना।
करौं सद्य तेहि साधु समाना॥'

अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार ऐसा तो भगवान अपने शरणागत के लिये ही करते हैं। इसलिये भगवान् की शरण में ही जीव का हित है अन्यथा नहीं।

॥२५॥

यद्यपि कि मैंने वेद शास्त्रों की अवहेलनारूप भगवान का अनन्तानन्त अपराध किया है यथा—

'यद्यपि मैं अनभल अपराधी।'

तो भी शरण में जीव के जाते ही—

'तदपि सरन सन्मुख मोहिं देखी।
छमि सब करिहहिं कृपा विसेखी॥"

॥२६॥

सर्वैश्वर्य सम्पन्न भगवान सर्वान्तर्यामी एवं सर्व नियन्ता हैं। वेद शास्त्र उनकी आज्ञा है। अतः जिनके लिये जो आज्ञा भगवान की तरफ से शास्त्रों में विहित है उसके पालन में निश्चेष्ट होना भगवान की अप्रसन्नता का हेतु है। अतः अपने अपने वर्णाश्रम धर्म पालन करने में कभी किसी को आलस्य एवं प्रमाद न करना चाहिये। क्योंकि नियम है कि—

'प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई।
सो तेहि भाँति रहे सुखलहई॥' ॥२७॥

भगवान में ऋजुत्व (आर्जवगुण) है इसी से उन्हें मन वच कर्म की सब प्रकार से निश्छलता ही प्रिय है।

'निर्मल मन जनसो मोहिं पावा।
मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥' ॥२८॥

यद्यपि कि मैं असंख्य पापों का प्रायश्चित्त नहीं कर सकता—

'तौ क्यों कटत सुकृत नख मोप बिपुल वृंद अघ बनके'
वि० प०॥

तो भी मुझे निरास न होना चाहिए क्योंकि प्रभु सर्वशक्तिमान हैं। उनकी शरण स्वीकार करते ही वे अपने बल, वीर्य, तेजादि दिव्यानन्त शक्तियों से जीव के सब पापों को क्षणमात्र में नष्ट करदेने की प्रतिज्ञा स्वयं ही करचुके हैं कि—

'सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जनम कोटि अघनासौं तबहीं॥

यही सिद्धान्त सर्वथा ठीक है कि—

'मेरे बनाये कल्प कोटि लौं बनेगी नहीं,
रावरे बनाए राम बने पल पाउमें'
वि० प०॥

'जासु पतितपावन बड़बाना'।

'जौ जग विदित पतित पावन अति बाँकुर बिरद न बहते।
तौ बहु कल्प कुटिल तुलसी से सपनेहुँ सुगति न लहते॥'
वि० प०॥ २९॥

आश्रितों पर भगवान की सब दिन कृपा ही रहा करती है तभी तो कहागया है कि—

'जन औगुन प्रभु मान नो काऊ।
दीनबन्धु अति मृदुल सुभाऊ॥'

भगवान अपनी दयालुता एवं स्वभाव मृदुलता के कारण नीच कुलोत्पन्न, अज्ञानी किंवा आचार रहित तात्पर्य यह कि भक्त चाहे जैसा ही हो उसे दुखी देखते ही हाय हाय करके दौड़ पड़ते हैं और उन भक्तों की मनोकामनाओं को पूर्ण करके ही अपने आपको कृतकृत्य ही मानते हैं। इसीसे तो श्री काकभुशुन्डि जी का कहना है कि–

'अस सुभाउ कहुँ सुनौ न देखौं।
केहि खगेस रघुपति सम लेखौं॥

॥ ३० ॥

ऐसे ही भगवान के गुण अनन्त हैं। उनका अन्त तो कोई पा ही नहीं सकता। हाँ उनकी कृपा से जितने मालूम हों उनका उपरोक्त प्रकार से तथा अन्य तरह से भी (जैसा कि श्री हरि गुरु संत कृपा से प्राप्त हो वैसे) अनुसन्धान करना उचित है। निष्कर्ष यह कि—

'सुमिरि सुमिरि गुण ग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ।'

जिसका परिणाम यह होगा कि—

'तुलसीदास अनयास रामपद पाइ है प्रेम पसाउ'

वि० प० ॥

उपरोक्त एवं अन्य भी अनन्तगुण भगवान में सदैव रहते हैं। भगवान चाहे किसी रूप में रहैं क्योंकि वे सदैव पूर्ण ही रहते हैं ऐसा ही श्रुति का आदेश है यथा—

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमदुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥'

'परास्य शक्ति विर्विधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥'
श्वे० उ० ६। ८॥

कुछ लोग भगवान् के केवल ६४ गुण ही मानते हैं (श्री रूप गोस्वामीजी ने तो भक्तिरसामृत सिन्धु में विस्तृत विवरण भी किया है) और वे ६४ गुण केवल परस्वरूप में ही रहते हैं। व्यूह विभव आदि में ६० ही अथवा इससे भी कम। परन्तु भगवान् तो सब काल में पूर्ण हैं यह ऊपर कहा जा चुका है और संख्या के विषय में तो गोस्वामी जी का कहना है कि —

'राम अमित गुन सागर थाह कि पावै कोइ ।'

हाँ शास्त्रों में भगवान् के गुणों की दो श्रेणी कही गई हैं एक असाधारण और दूसरी साधारण। असाधारण में वे हैं जो केवल श्रीभगवान ही में रहने वाले हैं अन्य में न हों जैसे अनन्त ब्रह्माण्डनायकत्व, सर्वनियामकत्व, सर्व व्यापकत्व एवं लीला माधुर्य्यादि। और साधारण वे हैं जो भगवान में तो रहते ही हैं जीव में भी रहते जैसे शम दमादि।

ऊपर कहे गये जिस ब्रह्म के गुण (और उनका अनुसंधान मुमुक्षुओं के लिये श्रुति स्मृतियों में निर्देश किया गया है) वह ब्रह्मजीवों के कल्याण के लिये अपने को—

'राम अनन्त अनन्तगुण'

अनन्त होते हुये भी मुख्यतया पाँच भेद करके नित्यस्थित हैं। उन पाँचों का नाम पर, व्यूह, विभव (अवतार) अन्तर्यामी और अर्चावतार हैं। उन पाँचों का वर्णन श्रुति स्मृतियों में तो बड़े विस्तार के साथ किया गया है और श्री गोस्वामी पाद ने मानस में सूक्ष्मरूप से किया है। वह वर्णन सूक्ष्म होने से भी बहुत स्पष्ट है। जैसे उपनिषद तथा भगवान् द्वैपायनकृष्ण

श्री०व्यास जी ने अपने शारीरिक मीमांसा दर्शन में लिखा है कि—

'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनम् ॥

कठ० उ० १।२।२४॥

'अत्ता चराचर ग्रहणात्'

ब्र० सू० १।२।६॥

'काल व्यालकर भच्छक जोई।'
'उदरमांझ सुनु अण्डजराया।
देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥'

मानस॥

'ज्ञोऽत एव'

ब्र० सू० २।३।१८।

'प्रभु जानत सब बिनहिं जनाये।'
'प्रभु सर्वग्य (दास निज जानी)।'

मानस॥

'कर्ता शास्त्रार्थत्वात्।'

ब्र० सू० २।३।३३॥

'लोकवल्लीला कैवल्यम्'

ब्र० सू० २।१।३३॥

'उमा राम की भृकुटि बिलासा।
होइ बिस्वपुनि पावै नासा॥'

'जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा ॥'

मानस ॥

श्रुतियों में परस्वरूप का वर्णन विस्तार से किया है, कुछ नीचे दी जाती हैं ।—

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम् तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

श्वेता० उ० ६ । ७॥

'तुम्ह ब्रह्मादि सकल जगस्वामी ।'
'उपजहिं जासु अंस ते नाना ।
संभु विरञ्चि विष्णु भगवाना ॥'

मानस ॥

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रियाच

श्वे० उ० ६।८॥

'आपु प्रगट भये विधि न बनाये ।'
'जाके सम अतिसय नहिं कोई ॥'

मानस ॥

'अधिक साम्य विमुक्त धाम्नः ।'

भा० ६ ॥

"राम अमित गुन सागर थाह कि पावै कोइ'

मानस ॥

'तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति।'

कठ० उ० २।२।१५॥

'न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
नचेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥

श्वे० उ० ६।६॥

'सदा स्वतंत्र राम भगवाना।'
'एक भूप रघुपति कौशला।'
'प्रभु समर्थ कौसलपुर राजा।'
'वंदेऽहं तमशेष कारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्'
'आपु प्रगट भये विधि न बनाये।'
'प्रनतपाल सचराचर नायक।'
'विषय करन सुर जीव समेता।
सकल एकते एक सचेता॥'
'सबकर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥'

मानस॥

'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः
कालकालो गुणी सर्वविद्यः।

प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसारमोक्षस्थिति बन्धहेतुः' ॥

श्वे० उ० ६।१६ ॥

'उमा राम की भृकुटि विलासा।
होइ विस्व पुनि पावै नासा ॥'
'प्रभु सर्वज्ञ (दास निजजानी)।'
'कारन रहित कृपाल०।'
'भुवनेस्वर कालहुकर काला।'
'सब गुनधाम राम प्रभुताई।'
'बंध मोक्षप्रद सर्व पर मायाप्रेरक सीव'।

मानस ॥

'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह'।

तैत्ति० उ० २।४ ॥

'मन समेत जेहि जान न बानी।
तर्कि न सकहिं सकल अनुमानी ॥'

मानस ॥

कुछ लोग—

'यतो वाचो०।'

इस श्रुति को लेकर कह बैठते हैं कि पर ब्रह्म निराकार है तभी तो मन वाणी आदि से अप्राप्य है परन्तु यहाँ श्रुति का तात्पर्य ब्रह्म को सर्वथा निराकार कहने में नहीं है प्रत्युत अशुद्ध मन वाणी आदि से अप्राप्य है इसलिये कि ब्रह्म प्राकृत आकार रहित है। सर्वथा अप्राप्य नहीं है क्योंकि अन्य श्रुति में शुद्ध मन आदि से प्राप्य बतलाया है यथा—

'यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति० ॥'

कठो० उ० १।३।८॥

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥'

कठो० उ० १।३।१२॥

'हृदाभिलीषा मनसाभिक्लृप्तो य एवं विदुरमृतास्तेभवन्ति।'

'आत्मा वारे द्रष्टव्यः।'

इसीसे परमवेदज्ञ राजर्षि जनक जी ने—

'मन समेत जेहि जान न बानी।
तर्कि न सकहिं सकल अनुमानी॥'

से अशुद्ध मन वाणी से अगम्य कह कर तुरन्त ही शुद्ध मनादि से प्राप्य बतलाते हुये कहा कि—

'नयन विषय मो भयउ सो समस्त सुखमूल'।

भगवान् श्री कृष्णजी ने अर्जुन से यही कहा था कि—

'नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

गीता ११।८॥

'य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽ
विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः'॥

छा० उ० ८।७।१॥

इस श्रुति तथा—

'परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे'

इस स्मृति और

'क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः'

योग सूत्र १ । २४ ॥

आदिक से प्रतिपादित भगवान नित्य ही जिसरूप से अपने त्रिपाद विभूतिस्थ धाम में स्थित रहते हैं वही रूप ब्रह्म का परस्वरूप कहा जाता है। उस एक ही परस्वरूप का उपासक लोग स्वस्व रुच्यनुसार विभिन्न रूप एवं विभिन्न नाम से प्रतिपादन करते हैं। परन्तु श्रुति स्मृतियों में उसे द्विभुज ही कहा गया है। यथा—शुक्ल यजुर्वेद संहिता में एकतीसवें अध्याय में श्रुतियों ने प्रश्नोत्तर रूप से ब्रह्म का द्विभुज होना ही प्रतिपादन किया है। प्रश्न यह है कि

'मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादावुच्येते।'

उत्तर में कहा गया है—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
'ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याशूद्रोऽजायत ॥'

यहाँ "बाहू' स्पष्ट ही द्विवचन है एकवचन या बहुवचन नहीं।

यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि यहाँ एक वचन 'बाहुः' था 'राजन्यः' के रकार के योग से विसर्ग का लोप होगया और उकार के दीर्घ होने से 'बाहू' बन गया है, क्योंकि प्रश्न भी तो 'बाहू' 'ऊरू' 'पादौ' द्विवचन से ही किया गया है। अतः उत्तर में भी 'ऊरू, पद्भ्यां' जैसे द्विचनान्त हैं उन्हीं के साहचर्य से 'बाहू' भी द्विवचनान्त ही है एक बचनान्त बाहुः नहीं और बहु वचनान्त बाहवः तो किसी तरह है ही नहीं। अतएव ब्रह्म का परस्वरूप 'द्विभुजमेकवक्त्रंच' ही श्रुति सिद्ध है। अन्यवाक्य भी इसी की पुष्टि करते हैं जैसे कि—

"प्रकृत्या सहितः श्यामः पीतवासः प्रभाकरः।
द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः॥'

रामपूर्व तापनी ४।७॥

'ततः सिंहासनस्थः सन् द्विभुजः रघुनन्दनः।
धनुर्धरः प्रसन्नात्मा सर्वाभरण भूषितः॥ ३० ॥
मुद्रां ज्ञानमयीं याम्ये वामे तेजः प्रकाशिनीम्।
धृत्वा व्याख्यान निरतः चिन्मयः परमेश्वरः॥ ३१॥
'स्थूलमष्ट भुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्।
परन्तु द्विभुजं प्रोक्तं तस्मादेतत्त्रयं यजेत्॥'
'द्विहस्तमेकवक्त्रं च शुद्ध स्फटिक सन्निभम्।
सहस्र कोटि वह्नीन्दु लक्षकोट्यर्क सदृशम्॥
मरीचि मण्डले संस्थं बाणाद्यायुध लाञ्छितम्॥
किरीट हार केयूर वनमाला विराजितम्॥
पीताम्बरधरं सौम्यं रूपमाद्यमिदं हरेः॥'

नारद पञ्चरात्र॥

'द्विभुजश्चापभृच्चैव भक्ताभीष्ट प्रपूरकः॥'

हनु० सं० ६॥

'रामात्संजायते कामः कामाद्विश्वं प्रजायते।
तस्माद्धनुर्धरात्सर्वे द्विभुजा मूल रूपिणः॥'
'परं ब्रह्म परं धाम जगतां कारणं परम्।
नागशय्या शयानं च द्विभुजं रघुनन्दनम्॥'

'द्विभुजो जानकी जानिः सदा सर्वत्र शोभते।
भक्तेच्छातो भवेदेष वैकुण्ठेतु चतुर्भुजः।'

(महा शिव संहिता)

'दशहस्त्या अंगुलयो दश दूग।
द्वावूरू द्वौ बाहू आत्मैर्न पञ्चविशम्॥

ऐतरेयः ब्राह्मणः

'पाणिभ्यां त्रयीं सम्भगति।'

रहस्य आम्नाथः॥

'युक्तः पाणि द्वयेन सः।'

सात्वत संहिता॥

'द्विभुजं पुरुषाकारं युक्तमादित्य सन्निभैः।
स्वजैराभरणैश्चिह्नैश्शंखचक्रादि संज्ञितैः॥'

पुष्कर संहिता॥

''निरस्त्रा द्विभुजा सौम्या शंखचक्र करांकिता।
महापुरुषरूपा च सुपूसन्ना बिलक्षणाः॥'

सुमन्तु संहिता॥

'द्विबाह्वोश्चक्र धृत पाणिर्दक्षिण श्शंख धृतपरः।
उपविष्टन्तु मोक्षार्थी उत्थितं विश्व सिद्धये॥'

भरद्वाज संहिता॥

'पुरुषोत्तमस्य देवस्य शुद्धस्य स्फटिकत्विषः।
समपादस्य पद्मोर्ध्वे ह्येकवक्र स्य संस्थितिः॥'
वरदाभय हस्तौ द्वावप्रवृत्ताख्य कर्मणो॥'

संकर्षण संहिता॥

इत्यादि श्रुति स्मृतियों में किये गये ब्रह्म के परस्वरूप के वर्णन को मा. स के मनु प्रकरण में इस तरह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब मनु का अपार तप देखकर—

'विधि हरिहर आये बहु बारा ।'

और

'मागहु वर बहुभाँति लोभाये ।'

परन्तु

'परम धीर नहिं चलहिं चलाये ।।'

क्योंकि उनके तो—

'उर अभिलाष निरन्तर होई ।
देखिय नयन परम प्रभु सोई ।।
अगुन अखण्ड अनन्त अनादी ।
जेहि चिन्तहिं परमारथवादी ।।
नेति नेति जेहि वेद निरूपा ।
चिदानन्द निरुपाधि अनूपा ।।
सम्भु विरञ्चि विष्नु भगवाना ।
उपजहिं जासु अंसते नाना ।।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई ।
भक्तहेतु लीलातनु गहई ।।
जो यह वचन सत्य श्रुति भाषा ।
तौ हमारि पूजिहिं अभिलाषा ।।'

जब विधि हरिहर द्वारा कई बार लोभित करके परीक्षा करली गई और मनुजी परीक्षा में खरे उतरे, तब

'प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी।
गति अनन्य तापस नृपरानी ॥'

तब—

'माँगु माँगु वर भइ नभवानी।
परम गंभीर कृपामृत सानी ॥'

इस पर मनु ने प्रार्थना की कि—

'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू।
विधि हरिहर वन्दित पदरेनू ॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक।
प्रनत पाल सचराचर नायक ॥
जौं अनाथहित हम पर नेहू।
तौ प्रसन्न होइ यह वर देहू ॥
जो स्वरूप बस सिव मनमाहीं।
जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥
जो भुसुण्डि मन मानस हंसा।
सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन ॥'

इस प्रकार माँगने पर वेदों द्वारा सगुणागुण रूप से प्रतिपादित जो स्वरूप मनु जी के सामने प्रकट हुआ वही ब्रह्म का परस्वरूप है। गोस्वामी जी ने उसका वर्णन इस तरह किया है कि—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनुसोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

सरद मयंक बदन छबि सींवा।
चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवाँ॥
अधर अरुन रद सुन्दर नासा।
विधुकर निकर बिनिन्दक हासा॥
नव अम्बुज अम्बक छबिनीकी।
चितवनि ललित भावती जीकी॥
भृकुटि मनोज चाप छबि हारी।
तिलक ललाट पटल द्युतिकारी॥
कुण्डल मकर मुकुट सिर भ्राजा।
कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥
उर श्रीवत्स रुचिर वन माला।
पदिक हार भूषन मनि जाला॥
केहरि कधर चारु जनेऊ।
बाहु विभूषन सुंदर तेऊ॥
करि कर सरिस सुभग भुजदण्डा।
कटि निषङ्ग कर सर को दण्डा॥

तड़ित विनिन्दक पीतपट उदर रेख वर तीनि।
नाभि मनोहर लेत जनु जमुन भँवर छबि छीनि॥

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं।
मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥
बामभाग सोभति अनुकूला।
आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी।
अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥

मनु को जिस रूप से दर्शन दिया गया वह भगवान का नित्यरूप है। वह सदा किशोरावस्थापन्न ही रहता है यथा—

'वैदेही वल्लभो नित्यं कैशोरे वयसि स्थितम्।'

हनुमत्संहिता॥

'षोड़शवर्ष किशोर राम नित सुन्दर राजै'

ध्यान मञ्जरी॥

'बयकिशोर सरियार मनोहर बयस सिरोमनि होने।'
'मुख ससि भिजत लोनाई।'

गीताबली॥

'बय किसोर सुषमा सदन।'

मानस॥

स्मरणीय विषय—

(क) ब्रह्म के परस्वरूप वर्णन में जो श्रुति स्मृतियों के साथ गोस्वामी जी के वाक्य उद्धृत किये गये हैं वे प्रायः लीला अयोध्यास्थ राम जी के लिये प्रयुक्त किये गये वाक्य हैं। इसका कारण यह है कि ब्रह्म का जिस रूप से अपने त्रिपाद्विभूतिस्थ भोग स्थान पर अयोध्या में निवास रहता है,

इसी रूप से विभवकाल में भी एक पाद स्थित लीला अयोध्या में भी निवास रहता है। जैसा महाशिवसंहिता के पंचम पटल में कहा गया है कि-

'भोगस्थान पराऽयोध्या लीला स्थानत्विदं भुवि।
भोग लीलापती रामो निरंकुश विभूतिकः॥'

इसी से गोस्वामी जी ने प्रसंगवश मनुप्रकरण में सूक्ष्मरूप से ही पररूप का वर्णन करके अन्यत्र केवल संकेत मात्र ही कर दिया है। यथा—

'रामधाम पथ पावहिं सोई।
जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥'
'पुनि मम धाम जाइहहु जहाँ सन्त सब जाहिं।'
'राम अनादि अवधपति सोई।'

इत्यादि

(ख) यह लेख एक तो वैसे ही बड़ा है, यदि इसमें उद्धृत सब श्रुतियों स्मृतियों का अर्थ भी दे दिया जावे तो लेख बहुत बृहत हो जावेगा। दूसरे जो श्रुति स्मृति के प्रमाण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं उनका भाव तो श्री गोस्वामी जी के शब्दों में आ ही जाता है।

(ग) रामचरितमानस के कुछ गूढ़ तत्व गोस्वामी पाद-रचित 'गीतावली, दोहावली, कवितावली, विनयपत्रिका' आदिक ग्रन्थों की सहायता बिना नहीं खुलते, इसी से पंडित प्रवर श्री रामगुलाम द्विवेदी, काष्ठजिह्व श्री देवतीर्थ स्वामी श्री नन्दन पाठक आदि मानस विज्ञों ने श्री मन्मानसकार के अन्य ग्रन्थों को मानस की कुंजी कहा है। यथा मेरे भावानुसार—

गीत, कवित, दोहावली, विनयादिक सब ग्रंथ।
मानस भावहिं लखन को, तुलसी रच्यो सुपंथ॥

अतएव आवश्यकतानुसार अन्यग्रन्थों की सहायता लेना अनिवार्य है।

(घ) कुछ लोगों का कहना है कि गोस्वामी जी अद्वैतवादी थे। अपने ग्रन्थों में अद्वैतवाद को सिद्धाँतित किये हैं। परन्तु निष्पक्षभाव से देखा जाय तो स्पष्ट दिखाई देता है कि गोस्वामी जी अद्वैतवादी नहीं थे, विशिष्टा द्वैतवाद ही उनका दार्शनिक सिद्धान्त है। उन्होंने जगह जगह अद्वैतवाद के सिद्धान्तों का खण्डन किया है परन्तु विशिष्टा द्वैतवाद के प्रतिकूल कहीं एक शब्द भी नहीं लिखा है। विशिष्टाद्वैत् शब्द का अर्थ तथा कुछ सिद्धान्त का दिग्दर्शन मैंने आरम्भ में करा दिया है। उसी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ही गोस्वामीजी के सब ग्रन्थ रचे गये हैं। यदि विशिष्टा द्वैतवाद के विरुद्ध गोस्वामीजी अद्वैत मायावाद) सिद्धान्त के अनुसार अपने ग्रन्थ की रचना करते तो—

'जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं,
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥'

इस प्रकार का वेदवाक्य उद्धृत न करते। इस वेद स्तुति की उक्ति से तो वेदों का सिद्धान्त उन्हीं के मुख से स्पष्ट निश्चय होगया कि 'अनुभवगम्य अद्वैत अर्थात् निर्गुण निर्विशेष चिन्मात्र को' ही जो विचारने वाले हैं वे लोग ही कहें तथा वे ही जानें भी। हम (चारों वेद) तो नित्य आप (ब्रह्मराम) के सगुण रूप के यश का ही गान करते हैं। इस कथन का निष्कर्ष यह निकला कि वेद में कहीं निर्गुण निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म का वर्णन ही नहीं है। अतः ऐसा प्रतिपादन करने वालों तथा

अपने को ब्रह्म मानने वालों का सिद्धान्त सर्वथा वेद विरुद्ध है [अतएव वे वेदान्ताचार्य जी के शब्दों में प्रच्छन्न बौद्ध कहे जाते हैं क्योंकि इनका ब्रह्मवाद और बौद्धों का शून्यवाद वा (संवित) विज्ञानवाद एक ही है] श्री गोस्वामी जी का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद ही है। उनके समस्त ग्रन्थ भक्ति प्रधान ही हैं। उन्होंने मोक्ष के प्रति अन्य साधनों को असम्भव दिखला-कर भक्ति से ही मुक्ति होना निर्धारित किया है। यथा –

'श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं।
रघुपति भक्ति बिना सुख नाहीं॥
कमठ पीठि बरु जामहिं बारा।
बंध्या सुत बरु काहुहिं मारा॥'

'बारि मथे बरु होइ घृत, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल॥'

और वेदों के द्वारा हो ज्ञान प्रधान अद्वैत सिद्धान्त की अहंब्रह्मास्मि इत्यादि उपासनाओं के ऊपर विशेष रूप से कटाक्ष भी किया है। यथा —

'जे ज्ञानमान विमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'

विनयपत्रिका और कवितावली में भी इसी तरह की कड़ी फटकार बताई है। यथा—

'जो जगमृषा ताप त्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखे'
विनय पत्रिका॥

झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जे अन्त लहा है।
ताको सहै सठ सङ्कट कोटिक काढत दन्त करन्त हहा है॥

ज्ञानपनी को गुमान बड़ो तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकी जीवन जाने बिना तेहि ज्ञान कहावत ज्ञान कहा है॥

कवितावली॥

अद्वैत सिद्धान्त के आचार्यप्रवर श्री शंकर स्वामी का अभिमत है कि मुक्ति का अन्य उपाय ही नहीं है। केवल एक मात्र निगुण ब्रह्मतत्व के साक्षात्कार होने से ही मुक्ति होती है प्रपंच की निवृत्ति तब तक नहीं होती जब तक कि निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मतत्व का साक्षात्कार नहीं होता है। इसी सिद्धान्त को वेदान्त दर्शन के—

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।'

सूत्र के भाष्य में स्पष्ट करते हुये निगुण ब्रह्म को ही जिज्ञास्य-जिज्ञासा का विषय बतलाया है।

अद्वैत सिद्धान्त में जीवविषयक अनेक मत हैं। कोई कहते हैं कि अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन ही जीव हैं। कोई प्रतिबिंब को ही जीव मानते हैं। कोई कहते हैं जीव एक है तो कोई कहते हैं अनेक हैं। इसी तरह साधन (उपाय) एवं फल में भी अनेकों मत हैं। जो कि सब बातें अद्वैतलेशादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। परन्तु गोस्वामीजी का सिद्धान्त इससे सर्वथा भिन्न है। उनका सिद्धान्त तो निर्विवाद सिद्ध बिशिष्टाद्वैतवाद अतः विशिष्टाद्वैतवाद के आचायप्रवर भगवान वेदव्यास कृत वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के क्रमानुसार इस मानस सिद्धान्त में अथ पंचक का वर्णन होरहा है।

एक ही परस्वरूप को उपासकगण अपनी भावनानुसार 'पर बासुदेव, पर नारायण, पर कृष्ण' आदि कहते हैं।

'स बाह्याभ्यन्तरं कृत्स्न आनन्द रस स्पन्दितः।
मधूर्दधिरिवापारो राम एव परः पुमान् ॥'

महाशि० सं०॥

'सो सुखधाम राम असनामा।
अखिल लोकदायक विश्रामा ॥'

मानस ॥

इत्यादि प्रकार से जिस परस्वरूप का वर्णन है वही सृष्टि सञ्चालनार्थ एवं उपासकों पर दया करके क्रमिक उपासना की सिद्धि के लिये जो रूप ग्रहण करता है उसे व्यूह कहते हैं और

'परित्राणाय साधूनां'

जब रूप ग्रहण करता है उसे विभव या अवतार कहते हैं। श्रुति भी—

'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना।'

अथर्व वेद।

'भक्त हेतु लीला तनु गहई।'

अतः व्यूहादिक अन्य जितने हैं सब परस्वरूप द्विभुज के अवान्तर रूप हैं यथा—

'कल्पितं चापरं रूपं नित्यं द्विभुजमेवतत्।
परमं रस सम्पन्नं ध्येयं योगविदां वरैः॥

महाशिव स०॥

इसका खुलासा यह है कि--सृष्टि बनाते समय भगवान् प्रथम पंचमहाभूतों की रचना करके इस एक पाद् विभूति में ही अपने लिये अपनी चिन्मय विभूति से कई लोक रचकर प्रत्येक लोकों में विभिन्न रूप से सृष्टि सञ्चालनार्थ स्थित हुये हैं। उन्हें ही व्यूह कहा जाता है। वे व्यूह चार एवं द्वादशादि भेदों करके

कई रूप से हैं। ग्रन्थों में उनके रूप, गुण, आयुध शक्तियों के नाम एवं लोकों के नाम भी विस्तार पूर्वक दिये हैं। कुछ का दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है।—

अगस्त संहिता के बारहवें अध्याय में १० वें श्लोक से ३१ वें श्लोक तक विस्तार से बहुत से व्यूहों के नाम सशक्ति बताये गये हैं। बिस्तार भय से श्लोक न देकर केवल कुछ के नाम मात्र यहाँ दिये जाते हैं। शक्ति व्यूह केशव-कीर्ति १। नारायण-कान्ति २। माधव-तुष्टि ३। गोविन्द-पुष्टि ४। विष्णु धृति ५। मधुसूदन-शान्ति ६। विक्रम-क्रिया ७ वामन-दया ८। श्रीधर-मेधा ९। हृषीकेष-हर्षा १०। पद्मनाभ-श्रद्धा ११। दामोदर-लज्जा १२। वासुदेव-लक्ष्मी १३। सङ्कर्षण-सरस्वती १४। प्रद्युम्न-प्रीति १५। अनिरुद्ध-रति १६। मुकुन्द-विमदा १७। नन्दज-सुनन्दा १८। नर-ऋद्धि १९। हरि-शुद्धा २०। कृष्ण-बुद्धि, सत्य और मुक्ति २१। सात्वत-मति २२। जनार्दन-उमा २३। बैकुण्ठ-वसुदा २४। पुरुषोत्तम-वसुधा २५। हंस-प्रज्ञा २६। बराह-प्रभा २७। नृसिंह-अमोघ २८। इत्यादि। ग्रन्थों में इनके रूप और अस्त्रादिकों का भी वर्णन है कि केशव का सुवर्ण समान रूप और चार चक्र हैं। नारायण का श्याम रूप और चार शङ्ख हैं। माधव का इन्द्र नीलमणि के समान रूप और चार गदायें हैं। गोविन्द का चन्द्र समान रूप और चार धनुष हैं। विष्णु का कमल किंजल्क समान पीत रूप और चार हल हैं। मधुसूदन का कमल समान रूप और चार मुशल हैं। त्रिविक्रम का अग्नि समान रूप और चार खड्ग हैं। वामन का बालसूर्य समान रूप और चार वज्र हैं। श्रीधर का श्वेत कमल समान रूप और चार पट्टिश हैं। ऋषिकेश का विद्युत समान रूप और चार मुद्गर हैं। पद्मनाभ तरुण सूर्य के समान रूप और पंचायुध (शङ्ख, चक्र-गदा, पद्म और धनुर्बाण) हैं। दामोदर का इन्द्रगोप (वीर-

बहूटी नामक बरसाती लाल मखमली कीड़ा) के समान रूप और चार पाश हैं।

अगस्त संहिता में ४६ व्यूह कहे गये हैं उनमें द्वादश प्रधान हैं। उन्हीं द्वादशों के स्थान का विधान द्वादश ऊर्ध्व पुण्ड्रों में किया जाता है। चार व्यूह सब में प्रदान हैं—वासुदेव, सङ्कर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न। इनमें वासुदेव में ज्ञान, बल, शक्ति, वीर्य, ऐश्वर्य और तेज से छहों गुण पूर्ण रहते हैं। सङ्कर्षण में ज्ञान और बल ये दो गुण प्रगट रहते हैं। अनिरुद्ध में शक्ति और तेज, और प्रद्युम्न में ऐश्वर्य और वीर्य ये दो-दो गुण प्रकट रहते हैं। इन्हीं चतुर्व्यूह से द्वादश व्यूह प्रगट होते हैं अर्थात् केशव, नारायण और माधव ये तीन वासुदेव में से प्रगट होते हैं गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन ये तीन संकर्षण में से प्रगट होते हैं त्रिविक्रम वामन और श्रीधर ये तीन प्रद्युम्न में से प्रकट होते हैं और ऋषीकेष, पद्मनाभ और दामोदर ये तीन अनिरुद्ध से प्रकट होते हैं। इन्हीं द्वादश से आवश्यकतानुसार ४६ एवं अनेकों व्यूह प्रगट होते हैं।

इन सब व्यूहों का वर्णन श्री गोस्वामी जी ने थोड़े किन्तु स्पष्ट शब्दों में सुन्दर रूप से सती मोह प्रकरण में कर दिया है। यथा—

'सती दीख कौतुक मग जाता।
आगे राम सहित श्री भ्राता॥
फिर चितवा पाछे प्रभु देखा।
सहित बन्धु सिय सुन्दर वेषा॥
जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना।
सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना॥

देखे सिव विधि विस्नु अनेका।
अमित प्रभाव एक ते एका॥
बन्दत चरन करत प्रभु सेवा।
बिबिधि वेष देखे सब देवा॥
सती बिधात्री इन्दिरा देखी अमित अनूप॥
जेहि-जेहि वेस अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप॥
देखे जहँ तहँ रघुपति जेते।
सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥
पूजहिं प्रभुहिं देव बहु वेषा।
राम रूप दूसर नहिं देखा॥'

इत्यादि। मनुप्रकरण में भी –

'उपजहिं जासु अंस तें नाना।
सम्भु विरंचि विष्नु भगवाना॥'

उपरोक्त प्रधान चतुर्व्यूहों में षडगुणैश्वर्यादि के नित्य उद्भूतत्व के कारण वासुदेव प्रधान माने जाते हैं। कुछ महानुभाव चतुर्व्यूहान्तगत वासुदेव को ही परवासुदेव मान लेते हैं। परन्तु ऐसा मानने से व्यूहत्रयी ही रह जाती है और नारद पंचरात्र के बृहद्ब्रह्म संहिता में-

'वासुदेवादि मूर्तीनां चतुर्णां कारणं परम्।'

शब्द से स्पष्ट ही चार व्यूह कहकर वासुदेव को भी उनमें गिनाया गया है। अस्तु

व्यूहों का लोक भी अलग-अलग विभिन्न नामों से महानारायणोपनिषद् में कहा गया है यथा—

१ 'तत्र मध्यम पाद मध्य प्रदेशेऽमिततेजः प्रवाह कारतया नित्य बैकुण्ठं विभाति।'

(नित्य बैकुण्ठ अ० १॥

२ 'स एव नित्य परिपूर्णः पाद् विभूति वैकुण्ठ नारायणः।'

(पाद विभूति बैकुण्ठ) अ० २॥

३ 'प्रदक्षिण नमस्कार पूर्वकं ब्रह्मय वैकुण्ठमाविश्य॥"

(ब्रह्ममय बैकुण्ठ) अ० ५॥

४ ८—तदनुज्ञातश्चा पर्युपरि गत्वा पंच वैकुण्ठानतीत्य॥'

अ० ५ (इस श्रुति में पाँच बैकुण्ठ कहे गये हैं)

६ 'अनादि पाद्विभूति बैकुंठमेवभाभाति॥'

अ० ६ (अनादिपाद विभूति बैकुण्ठ)

१० 'विद्याविद्ययोः सन्धौ विष्वक् सेन बैकुंठपुरमाभाति।'

अ० ६ (विष्वकसेन बैकुण्ठ)

११ 'विद्यामयानन्त बैकुंठान्परितः॥'

अ० ६ (विद्यामयानन्त बैकुण्ठ)

१२ 'ब्रह्मविद्या बैकुंठमाविश्य।'

अ० ६ (ब्रह्म विद्या बैकुण्ठ)

१३ 'बोधानन्द मयानन्त बैकुंठानवलोक्य॥'

अ० ६ (आनन्द बैकुण्ठ)

१४—तुलसी वैकुंठं प्रविश्य ।'

अ० ६ (तुलसी वैकुण्ठ)

१५—'तन्मध्ये च शुद्ध बोधानन्द वैकुंठम् ॥'

अ० ६ (शुद्ध बोधानन्द वैकुण्ठ)

१६—'ततः सुदर्शन वैकुंठ वैकुंठपुरमाभाति ।'

अ० ७ (सुदर्शन वैकुण्ठ) इत्यादि प्रधान चतुर्व्यूहों के वैकुण्ठों को अलग नाम से वर्णन किया है यथा:-

'वैकुंठं पंचमाख्यातं क्षीराब्धि च रमान्वयम् ।
कारणं महावैकुंठ पंचमं विरजापरम ॥'

सदाशिव सं० ॥

१ क्षीराब्धि, २ रमा वैकुण्ठ, ३ कारण वैकुण्ठ, ४ महा-वैकुण्ठ और पाँचवां विरजापार है जिसके लिये कि महानारा-यणोपनिषद् में—

'त्रिपाद्विभूति वैकुंठस्थान तदेव परमं कैवल्यम् ।'

अ० ७ त्रिपाद्विभूति वैकुण्ठ कहा गया है ॥

[इसी त्रिपाद्विभूति वैकुण्ठ के मध्य में गोलोक है और गोलोक के मध्य में साकेत है इसका विस्तृत वर्णन प्राप्य स्वरूप वर्णन में यथा सम्भव किया जायेगा] उपरोक्त गिनाये गये बीस के अतिरिक्त भी कई वैकुण्ठ एक पाद विभूति में हैं इन्हीं में श्रापादिक राजसी तामसी कार्य होते हैं। जैसे जय विजय को सनकादि का श्राप, भृगु का श्राप भगवान् विष्णु को पत्नी वियोग [भृगु के श्राप के ही कारण से लक्ष्मी जी समुद्र में गुप्त हो गई थीं जिनके उद्धार के लिये कि भगवान ने कच्छप रूप धारण करके समुद्र मंथन में सहायता दिया

जिससे लक्ष्मी जी का पुनः प्राकट्य हुआ।] क्षीराब्धि में भगवान् नारायण के वक्ष स्थल पर पद प्रहार इत्यादि। उपरोक्त इन्हीं सब बैकुण्ठों के लिये श्री गोस्वामी जी ने मानस में सूत्र रूप से एक ही अर्धाली में कह दिया है कि—

'यद्यपि सब बैकुंठ बखाना।
वेद पुरान बिदित जगजाना॥'

वास्तव में व्यूह भी अवतार ही हैं परन्तु जो अवतार की अवतारणा अलग से की गई है उसका कारण यह है कि सृष्टि के आरम्भिक काल में ही भगवान ने जिन रूपों में अपनी स्थिति सृष्टि संचालनार्थ कर लिया है उसे महाप्रलय के पहिले अपने परस्वरूप में लीन न करके महाप्रलय तक स्थिति रक्खेंगे और जो अन्य रूप से अवतार लेते हैं उस रूप को थोड़े काल के बाद अर्थात् अवतार सम्बन्धी कार्य हो जाने के बाद तिरोहित कर लेते हैं।

प्रायः व्यूहरूपेण स्थित भगवान् ही आवश्यकतानुसार अवतार लिया करते हैं-यथा

'एष नारायणः साक्षात् क्षीराब्धि निकेतनम्।
नाग पर्यंकमुत्सृज्य ह्यागतो मथुरापुरीम्॥'

म० भा०॥

'क्षीरोदार्णवशायिनं नृकेशरि विग्रहम्॥'

नृ० ता० पू० १।५॥

'कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान् हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे।'

भा० १०।८९।५९॥

बिस्नु जो सुरहित नरतनु धारी।'

मानस। इत्यादि।

और कार्य करके अपने व्यूह रूप में ही स्थित हो जाते हैं। त्रिपाद्विभूति में नहीं जाते हैं यद्यपि कि वहाँ जाने में उन्हें कोई अड़चन नहीं है। वे तो सदा ही—

'परमस्वतन्त्र न सिरपर कोई।'

हैं। और त्रिपाद्विभूति से जो अवतार होता है वह अवतार कार्य करके त्रिपाद् में ही चला जाता है। इच्छानुसार फिर फिर प्रगट होकर भक्तों की कामनायें पूर्ण किया करता है॥

प्रधान चतुर्व्यूहों में संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न ये तीनों ही सतत काल विश्व, प्राज्ञ एवं तैजस भेद से रज, सत्, तम को स्वीकार करके सृजन, पालन और विनाश में लगे रहते हैं एवं अपने अनंत गुणों में से दो दो गुणों को ही प्रगट करते हैं—यथा

'ब्रह्म जेष्ठा सम्भृता वीर्याणि,
ब्रह्माग्रे ज्येष्ठ दिव माततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे,
तेनर्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुकः॥'

अथर्व वेद १६।२३।३०॥

'अथ नित्यो नारायणः। ब्रह्मानारायणः।

नारायण उ० २॥

'ब्रह्मादेवानां प्रथमः संबभूव बिश्वस्य कर्ता भुवनस्यगोप्ता॥'

मु० उ० १।१।१॥

'जगत्सृष्टि स्थिति लयान्कुर्वाणा गुण भेदतः।
ऐश्वर्य वीर्यवान्सर्वे प्रद्युम्नः प्रत्यपद्यतः॥

तेजः शक्ति समाविश्य ह्यनिरुद्धोऽप्यपालयत् ।
ज्ञानवान् बलवाँल्लोकान ग्रसत्संकर्षणोऽव्ययः ॥
पाराश० ६ । ६९, ७० ॥

इसका तात्पर्य यह कि ब्रह्म जिस शक्तिविशेष से*चतुर्मुख ब्रह्मा एवं कश्यप, दक्ष आदि प्रजापतियों में प्रविष्ट होकर सृजन का कार्य सम्पादन करता है उसे प्रद्युम्न, कामादि शब्दों से विशेषित किया जाता है, जिस शक्ति विशेष से इन्द्र, वायु, मेघ, चन्द्र, सूर्य आदि पालक वर्ग में प्रविष्ट होकर जगत का भरण पोषण करता है उसे अनिरुद्ध शब्द से विशेषित किया जाता है और जिस शक्ति विशेष से रुद्र, काल, यम, मृत्यु, अग्नि, शेष आदि संहारक वर्गों में प्रविष्ट होकर विनाश कार्य करता है उसे संकर्षण कहते हैं। और जो तीनों के ऊपर नियन्ता रूप से स्थित रहता है उसे वासुदेव, नारायणादि शब्दों से स्मरण किया गया है वह समय समय पर--

'ज्ञान शक्ति बलैश्वर्यं तेजो वीर्याण्यशेषतः ।'

इन सद्गुणों को तो प्रगट करता ही है, अन्य भी अनेकों गुणों को भक्त हितार्थ प्रगट करता रहता है उसीसे अनेकों त्रिव्यूह एवं नाना त्रिदेव प्रगट हुआ करते हैं वह स्वयं भी नाना रूपों में रहता है जैसे कि क्षीर समुद्र में सहस्रभुजरूप से किसी वैकुण्ठ में षट्भुज रूप से, किसी में चतुर्भुज रूप से, किन्ही में दशद्वादश षोड़श अष्टादश आदि रूप में और श्वेत द्वीप में अष्टभुजरूप में भमापुरुष नाम से। इन्हीं के लिये मानस में कहा गया है कि—

---

* इस का विशेष विवरण आगे दिया जायगा ।

'उपजहिं जासु अंस ते नाना।
सम्भु विरंचि विष्नु भगवाना ॥' इत्यादि।

ब्रह्म का तीसरा स्वरूप विभव (अवतार) है। त्रिपाद्विभूति से उतर कर जब भगवान् का दिव्य मंगल विग्रह एकपाद् विभूति में आता है तो वह अवतार शब्द से विशेषित किया जाता है। शंका हो सकती है कि तब तो व्यूहों को भी विभव (अवतार) कोटि में ही माना जा सकता था अतः शास्त्रकारों को व्यूह की अलग अवतारणा करने की आवश्यकता ही क्या थी ? इसका समाधान प्रथम कथनानुसार ही समझना चाहिये कि जो भगवद्विग्रह आरम्भिक सृष्टि में जिस आकार प्रकार से विशिष्ट प्रगट होता है महाप्रलय तक वह एक रस रहकर जगत का हित किया करता है, उसे व्यूह कहते हैं। व्यूह भी आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न रूपों को ग्रहण करके जगत का कार्य संपादन करके फिर अपने व्यूह रूप में ही स्थिर हो जाते हैं। त्रिपाद्विभूति में नहीं जाते यद्यपि कि उनके लिये कोई रोकटोक नहीं रहती। और जो विग्रह कुछ काल तक ही लीला करके तिरोहित होजाता है उसे विभव (अवतार) कहते हैं। यद्यपि कि अवतार कालीन विग्रह कहीं चला नहीं जाता, परन्तु सर्वसाधारण की दृष्टि से तिरोहित हो जाता है। जिन किन्हीं महाभागवतों पर जब कभी कृपाकी प्रबलता हुई तो उन्हें उसी समय उनकी इच्छानुसार विग्रह का दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं।

कुछ नास्तिक हृदय वाले शुष्क तर्क वादियों का कहना है कि जो सात्विक व्यक्ति उत्तमोत्तम साधनों द्वारा उच्च स्थिति को पहुँच जाते हैं उन्हें ही भोली भाली जनता अवतार मानने लगती है। परन्तु यह कहना सर्वथा अज्ञानता का द्योतक है। क्योंकि साधारण स्थिति से उच्च स्थिति को प्राप्त कर लेने का

नाम तो आरोहण करना है अवतरित होना नहीं। अवतार तो ऊपर (उच्चश्रेणी) से नीचे उतर (निम्नश्रेणी में) आने का नाम है। जैसे कि भगवान् अपनी दिव्यैश्वर्यमयी त्रिपाद-विभूति से उतर कर एक पाद् विभूतिस्थ· मिश्र सत्वमयी प्रकृति मण्डल में आकर, सर्व नियन्ता सर्व जनक होकर भी अपने प्रेमी भक्तों के पुत्र, शिष्य, सेवक, सुहृद आदि बन जाते हैं। भगवदवतारों का मुख्य कारण केवल भगवदिच्छा मात्र हैं अन्य नहीं। श्रापादि तो व्याज मात्र हैं। जैसे—

'नारद साप दीन्ह एक बारा।
एक कल्प तेहि लगि अवतारा॥'

वृन्दा का श्राप—

'तासु साप हरि कीन्ह प्रवाना।
कौतुक निधि कृपालु भगवाना॥'

इत्यादि से पाया गया कि शंभुगण एवं जालंधर के रावण कल्प में नारद श्राप एवं वृन्दा श्राप ही कारण है, परन्तु प्रकरण देखने से भगवद्इच्छा ही ज्ञात होती है। जैसे प्रथम तो मायावश होने से नारद जी ने श्राप दे दिया, किन्तु माया दूर हो जाने से प्रकृतिस्थ होने पर प्रार्थना किया कि-

'मृषा होउ मम साप कृपाला।'

तब

'मम इच्छा कह दीन दयाला।'

आगे भ नारद जी ने यही कहा कि—

'मोर साप करि अंगीकारा।
सहत राम नाना दुख भारा॥'

बृन्दा के श्राप की भी यही कथा है कि वृन्दा के श्राप को प्रभु अपनी ओर से प्रमाणित करके पतिबता का अद्भुत महात्म प्रगट किया क्योंकि भगवान् तो 'कौतुक निधि' एवं 'कृपालु' हैं।

ऐसे ही जब इन्द्र को नाश करने की इच्छा से देवसेना पर शस्त्रास्त्र प्रहार करने वाली दैत्यगुरु शुक्राचार्य की माता का सिर भगवान ने चक्र से काट लिया तब पत्नी वियोग से कर्षित होकर महर्षि भृगु ने भगवान को श्राप दिया कि—

'पतिव्रता महाभाग हता येन मम प्रिया।
सतु प्रिया बिरहित श्चिरकालं भविष्यति ॥'

भगवान् के श्राप के न मानने पर महर्षि भृगु ने घोर तप करके भगवान् को प्रसन्न करके अपना श्राप मानने की प्रार्थना किया तब कृपा करके भगवान ने स्वीकार कर लिया यथा—

'तपसाऽऽराधितो देवोह्यब्रवीद्भक्तवत्सलः।
लोकानां स प्रियार्थं तु शापं तद्ग्राह्यमुक्तवान् ॥
सर्वावर्तेषु वै विष्णोर्जननं स्वेच्छयैव तु।
जरकास्त्रच्छलेनैव स्वेच्छया गमनं हरेः ॥'
'द्विजशापच्छलेनैवमवतीर्णोऽसि लीलया ।।'

इस कथा का विस्तार मत्स्य पुराण और लिंग पुराण में है। इसी भृगु श्राप के कारण भगवान ने श्री लक्ष्मी जी को समुद्र में गुप्त करके बहुत काल तक प्रिया वियोग सहन करने के बाद स्वयं कूर्म रूप को धारण करके समुद्र मंथन द्वारा उन्हें पुनः प्राप्त किया।

भगवान ने स्वयं ही कहा है कि—

'जन्म कर्म च में दिव्यम्।'

तथा—

'संभवाम्यात्ममायया ।'

गीता ॥

यहाँ माया का अर्थ प्रकृति, अविद्या आदि नहीं है। प्रत्युत माया का अर्थ—इच्छा, कृपा आदि हैं, यथा—

'माया वयुर्न ज्ञानम् ।'

वैदिक निघंटु ॥

'माया दम्भे कृपायांच ।'

कोष।

इसी से मानसकार ने सुस्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गोद्विज लागि ।'

शास्त्रकारों ने भी ऐसा ही कहा है कि—

'इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः ।'

'इच्छा बिहार विधिना समावतरिष्यः ।'

'तत्त्वत्रयभाष्य ॥

हाँ भगवान की अवतार लेकर लीला करने की जब इच्छा होती है तब कोई न कोई हेतु उपस्थित ही कर लेते हैं जैसा विश्राम सागर कार ने कहा है कि—

'कीन्ह चहत हरि लीला जबहीं ।
ठाढ़ करत इक कारन तबहीं ॥'

परन्तु किस अवतार का कारण क्या है, अमुक अवतार किस हेतु से हुआ यह कहना सर्वथा असंभव है। साक्षात परम वेदज्ञ भगवान शङ्कर ने ही कहा है कि—

'हरि अवतार हेतु जेहि होई।
इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥'

तात्पर्य यह कि—भगवदवतार का 'इदम्' (यह) और 'इत्थम' (ऐसा ही) कारण है यह इसलिये नहीं कहा जा सकता कि सामान्यतः अवतार का कारण जो कुछ देख पड़ता है उससे कुछ विलक्षण ही कारण मालूम पड़ने लगते हैं अवतार कालीन तत्तद्भगवल्लीलाओं के देखने पर। तब कहना तथा मानना पड़ता है कि भगवदवतार का जो कारण प्रथम कहा गया था वह गौण है और जो अवतार कालीन लीला देखने से मालूम पड़ा वह (अनुमानतः) मुख्य है। शङ्का हो सकती है कि तब क्यों मुख्य कारण कोही प्रगट न करके अवतार होता है, गौण कारण ही क्यों विख्यात किया जाता है? इस संभवित शंका का समाधान एक तो इस तरह हो सकता है कि—

'परोक्ष वादो ऋषयः परोक्षोहि मम प्रियः।'

भाग० ११।२१।३५

इस अपनी परोक्ष प्रियता के कारण भगवान अपने अवतार के मुख्य प्रयोजन को छिपाते हैं। भगवान शंकर ने भी कुछ ऐसा ही सोचा था कि—

'गुप्त रूप अवतरेउ हरि गये जान सब कोय॥'

दूसरा यह कि अवतार के निज कारणों में तात्कालिक जगत हित निहित रहता है अथवा किसी एक प्रधान भक्त का हित समाया रहता है इसी से उसे गौण कारण कह सकते हैं और विख्यात भी किया जाता है। और जिससे अनन्त काल के लिये सर्व साधारण जगत का हित होता रहता है उसे मुख्य कह सकते हैं और उस मुख्य कारण का गोपन कार्य सिद्ध होने तक इसलिये रहता है कि जितनी सुविधा तथा उत्तमता गोपन

में रहती है उतनी सर्व साधारण में प्रथम ही प्रगट कर देने से नहीं होती।

'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।'

'अवतारा ह्यसंख्येयाहरेःसत्वनिधेर्द्विजः।' (भा०।१।३।)

के हिसाब से श्रीहरि के अनन्त अवतारों का अन्त (भेद) कौन पा सकता है जब कि किसी एक ही अवतार का रहस्य जीवों के लिये अज्ञेय है। परन्तु—

'निज-निज मति मुनि हरि गुन गावहि।'

इस न्यायानुसार परम प्रसिद्ध अवतारों में से कुछ का ही श्री गुरु भगवान् की कृपा से अपनी समझ में आये हुये गौण तथा मुख्य कारणों को लिखता हूँ।

१—मत्स्यावतार का साधारण (गौण) कारण तो मनु को प्रलय का कौतुक दिखाना मात्र एक भक्त का ही कार्य साधन कहा गया है परन्तु पीछे से मनु द्वारा सम्पूर्ण वनस्पति बीजों का संग्रह करा कर रक्षा करने से जगत मात्र का हित देख पड़ने से यही मुख्य कारण माना गया है।

२ कूर्मावतार का गौण कारण तो अपनी पीठ पर मंदर धारण करके अमृत निकालना ही सर्व साधारण में प्रसिद्ध किया गया। परन्तु समुद्र मंथन लीला देखने से और भी कई कारण देख पड़ने लगते हैं जिनका प्रथम किसी को अनुमान भी नहीं था; जैसे—

(क) श्री शङ्कर जी को हलाहल पिला कर अपने श्री राम नाम तथा रामभक्त का अनुपम महत्व प्रगट करना।

'नाम प्रभाव जान शिव नीके।
कालकूट फल दीन्ह अमीके॥'

(ख) महर्षि भृगु के श्राप से समुद्र में अदृश्य हुई श्री लक्ष्मी जी को प्रगट करना।

(ग) सम्पूर्ण औषधियों के पोषणार्थ गुरु पत्नी गमन के पाप और दुःख लज्जा से छिपे हुये चन्द्रमा को प्रगट करना।

(घ) जगत को धनवन्तरि रूप से सम्पूर्ण औषधियों के गुण अवगुण का ज्ञान कराना।

(ङ) महर्षिगण यज्ञ करने में यज्ञ सामग्रियों के अभाव का कष्ट न उठावें एतदर्थ कामधेनु कल्पवृक्ष प्रगट करना इत्यादि।

३—वाराहावतार का साधारण कारण यही कहा जाता है कि पाताल से पृथ्वी का उद्धार एवं हिरण्याक्ष का वध करने के लिये ही भगवान ने वाराह रूप धारण किया। परन्तु भगवान यज्ञवाराह चरित्र चित्रण से मुख्य कारण कुछ और ही विलक्षण मालूम पड़ते हैं। जैसे--

(क) यज्ञ के श्रुवचमसादि कौन पात्र किस आकार के किस प्रमाण के होने चाहिये इस विवाद को मिटाने के लिये अपने दिव्य चिन्मय विग्रह से समस्त यज्ञोपकरणों को प्रकट करना। यथा—

सकल यज्ञांशमय उग्रविग्रह क्रोड़
मर्दिदनुजेश उद्धरण उर्वी॥

वि० प० ५२॥

'यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्क्रौडीं
तनुं सकल यज्ञमयीमनन्तः॥'

भाग० २।७।१॥

(ख) भूदेवी की अंग संग की इच्छा को पूर्ण करके भौमासुर (नरकासुर) नामक पुत्र उत्पन्न करके उसी के द्वारा पूर्व वरदानिक सोलह हजार एक सौ कुमारियों का चयन कराना जिन्हें भगवान ने श्री कृष्ण रूप में अपनी महिषी होने का परम सौभाग्य प्रदान किया (देखिये आनन्द रामायण राज्य कांड) इत्यादि ।

४—नृसिंहावतार का कारण तो सामान्यतः हिरण्य कशिपु का बध ही विख्यात है परन्तु पुराणों का कहना है कि परम भगवद्भक्त श्री शङ्कर जी की युद्धाभिलाषा को पूर्ण करना ही नृसिंहावतार का मुख्य प्रयोजन था तभी शार्दूल रूप धारी श्री शङ्कर जी से लड़ कर उन्हें पूर्ण रूपेण तृप्त करके अपने भक्ताधीनत्व को प्रत्यक्ष किया ।

५—वामनावतार का कारण साधारण रूप से तो बलि निग्रह ही कहा जाता है। जिसमें देवमात्र का हित था, मनुष्यादि तो बलि के धार्मिक राज्य से किसी प्रकार क्लेशित नहीं थे अपितु परम सुखी थे। परन्तु चरित्र चिन्तवन से स्पष्ट मालूम पड़ जाता है कि—'चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारा तिरस्कृता एवं ब्रह्म कटाह में जल रूप से बन्दी की तरह रुकी हुई हैमवती (गङ्गा) का उद्धार करके उनमें अपनी पद रज स्थापित करके तद् द्वारा ही उन्हें पाप नाशकत्व, मुक्ति प्रदत्वादि अनेकों दिव्य गुण प्रदान करके ब्रह्म कमंडलु में स्थापित करना था।' जिन श्री गङ्गा जी को कि भागवताग्रगण्य महाराज भगीरथजी ने अपने तपः प्रभाव से त्रैलोक्य में प्रवाहित किया उन गंगा जी से अनेकों जागतिक प्राणियों का परम कल्याण होता ही रहता है।

६—श्री रामावतार का कारण प्रायः सब रामायणों में रावण का घोर अत्याचार ही कहा गया है। परन्तु यहाँ भी

अनेकों कारण विद्यमान हैं जिनमें कितनों को मुख्यता दी जा सकती है। विश्राम सागर कार महात्मा श्री रघुनाथदास राम-सनेही जी ने लिखा है कि—

'कौन चहत हरि लीला जबहीं।
ठाढ़ करत इक कारण तबहीं॥
जैसे विसिष चलावै कोई।
प्रथमै धरै निसाना सोई॥
उभय देव जाने अभिमानी।
अरि करि सरन भये भयमानी॥
तीसर हेतु मनुहिं वरदाना।
दीन रहै प्रभु कृपा निधाना॥
तूर्य युद्ध जानकिहि देखावन।
पचम जग विराग उपजावन॥
षष्ठम मुनि जन सुमिरन कीन्हा।
भक्त बछल प्रभु दर्सन दीन्हा॥
सप्तम देखि धरम कै हानी।
अष्टम प्रीति जनक कै जानी॥
नवम वचन विधि के बहुतेरे।
कीन्हें चहैं साँच तेहि तेरे॥
दसम दसानन सबहिं सताया।
बधन हेतु प्रगटे रघुराया॥

यहि विधि हेतु हजारन जानौ।
इतने ही हित जन्म न मानौं ॥"

श्री रामावतार की लीला के मनन करने से भगवान ने अपने अनन्तानन्त दिव्य गुणों में से जितने गुण श्री रामावतार में प्रगट किया उतने गुणों का प्रदर्शन अन्य किसी भी अवतार में नहीं किया। अतएव यही निश्चय हुआ कि श्री रामावतार का मुख्य कारण अनेक स्वकीय गुणों का प्रदर्शन करना एवं ज्ञान तथा धर्म के मार्ग को सुगम करना ही है। वेद भगवान का भी यही कहना है कि—

'धर्म मार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः।
तथा ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्यं स्वस्य पूजनात् ॥'

अथर्व वेद

भागवत कार महर्षि व्यासजी ने एक और कारण बताया है कि—

'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्य शिक्षणम् ॥'

भागवत ॥

७—इसी प्रकार श्री कृष्णावतार में भी अनेक राक्षसों एवं दैत्यावतार अनेक क्षत्रियाधमों का विनाश कराना ही कारण कहा जाता है परन्तु भगवान श्री कृष्ण जी की ललित लीलाओं के अवलोकन से उनके अवतार का यही मुख्य कारण जान पड़ता है कि उन्होंने अवतार लेकर उलझन में पड़े हुये अनेक धार्मिक सूत्रों को सुलझाया तथा अपने प्रेम एवं भक्त परवशत्वादि दिव्य गुणों का प्रदर्शन किया अतएव इन्हें ही मुख्य कारण मानना यथार्थ मालूम पड़ता है। इसी तरह अन्य अवतारों में भी रहस्य हैं। अस्तु,

इस प्रकार तो भगवदवतारों के गौण मुख्य कारण तो अनेकों होते हैं परन्तु भगवान के सम्पूर्ण अवतारों के मुख्यतर कारण तीन ही हैं और वे तीनों प्रत्येक अवतारों में रहते हैं और प्रत्येक अवतारों में व्यास समास रूप से उनका दिक्प्रदर्शन भी हो ही जाता है। यद्यपि कि–

'राम जनम के हेतु अनेका।
परम विचित्र एक ते एका॥'

तो भी मानस में उनका ही वर्णन अत्यन्त सुस्पष्ट शब्दों में है यथा—

'असुर मारि थापहिं सुरन राखहिं निज श्रुतिसेतु।
जग विस्तारहिं विसदजस रामजन्म कर हेतु॥'

गीता में स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने भी तो यही कहा है कि—

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।'
'धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।'

इन तीनों में भी मुख्यतम कारण एक ही है, वह है साधु परित्राण, क्योंकि दुष्ट विनाश और धर्म संस्थापन तो भगवान बिना अवतार लिये ही कर सकते और करते ही हैं। केवल साधु परित्राण ही बिना अवतार लिये नहीं कर सकते हैं। यहाँ त्राण शब्द के साथ वाले परि उपसर्ग के गर्भ में ही अवतार का रहस्य समाया हुआ है अर्थात् साधुओं का त्राण तो दुष्ट दमन एवं धर्म संस्थापन से हो ही जाता है तब फिर अलग से साधुत्राण को एक स्वतन्त्र कारण कहने का क्या प्रयोजन था? इसीलिये श्री हरि ने परि उपसर्ग पूर्वक त्राण कहा अतः 'परि' पूर्वक त्राण का अर्थ हुआ रक्षा के साथ साथ

हार्दिक अभिलाषा की पूर्ति, और भक्ताभिलाष पूर्त्यर्थ ही भगवान को अवतार लेने ही पड़ते हैं। क्योंकि बहुत भक्त लोग इस मर्त्यलोक में रह कर ही भगवान को पुत्र, शिष्य, सुहृद, मित्र, स्वामि और सखा आदि रूप में प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं, अतएव भगवान अनेक प्रकार की लीला जो अवतार लेकर करते हैं वह अपने परमैकान्तिक भक्तों की वाञ्छा पूर्ण करने के लिये ही। बस, अवतार का एक मात्र मुख्य-तम कारण साधु परित्राण ही है अन्य नहीं यथा।—

'सो केवल भक्तन हित लागी।
परम कृपालु प्रनत अनुरागी॥'

भगवान श्री रामजी ने तो बड़ी दृढ़ता के साथ इसे ही अवतार का कारण बतलाया है कि—

'तुम सारिखे संत प्रिय मोरे।
धरौं देह नहिं आन निहोरें॥'

ब्रह्मस्तुति के बाद आकाशवाणी द्वारा भी यही कारण बतलाया गया है कि—

'कश्यप अदिति महातप कीन्हा।
तिन कहँ मैं पूरब बर दीन्हा॥'
'तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई।'
'रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई।
हरिहौं सकल भूमि गरुआई॥'

अवतार प्रसङ्ग में यहाँ 'जाई' शब्द पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

शङ्कर जी ने कहा था कि—

'हरि व्यापक सर्वत्र समाना।'
'प्रभु तेहि प्रगट सदा तेहि रीती॥'

इसी आश्वासन पर ब्रह्मा ने बड़ी आर्तवाणी में प्रभु की स्तुति भी किया परन्तु उसी स्थान पर परब्रह्म का प्रादुर्भाव न होकर आकाश बाणी हुई। और आकाश बाणी में भी यह नहीं कहा गया कि मैं वहीं (दशरथ के गृह में) प्रगट हो जाऊँगा, प्रत्युत यह कहा गया कि मैं (यहाँ से या कहीं से) जाकर दशरथ गृह में 'अवतरिहौं' इससे तो स्पष्ट मालूम होता है कि दशरथ के घर अपने तीन अंशों के सहित अवतार लेने वाले सर्व व्यापक ब्रह्म नहीं हैं क्योंकि आकाश वाणी में 'जाई' शब्द ही साफ-साफ एक जगह से दूसरी जगह जाने वाले के लिये कहा गया है। और सर्व व्यापक होने से ब्रह्म का कहीं आना जाना हो नहीं सकता। आना जाना सिद्ध हो जाने से ब्रह्म का एक देशीय होना अनिवार्य है कारण कि सर्व देशीय का आना जाना कैसा। इस संभवित शंका का समाधान समझने के लिये ब्रह्म के व्यापक पने का समझना अत्यन्त आवश्यकीय है। जैसे सूर्य एक देशीय है परन्तु अपनी प्रभा द्वारा सर्वदा (दिन रात) सम्पूर्ण मही मंडल में व्याप्त है उसी तरह ब्रह्म अपने सच्चिदानन्दमय दिव्य विग्रह से एक देशीयवत् होते हुये भी सर्वदा सर्वत्र निर्बाधित रूप से व्याप्त है। ब्रह्म की व्याप्ति तीन तरह की शास्त्रों में कही गई है। ❀ परन्तु उन तीनों व्यापकता द्वारा ब्रह्म प्रायः किसी क्रिया विशेष का संपादन नहीं करता है। कुछ

❀ब्रह्म के तीनों प्रकार की सर्व व्यापकता का उल्लेख इसी ग्रन्थ के विभुत्व गुण में लिखा गया है अतः वहीं देख लेना चाहिये।

कार्य विशेष के संपादनार्थ ब्रह्म का अवतार होता है अर्थात् त्रिपाद् विभूतिस्थ चिन्मयानन्द दिव्य विग्रह युक्त ब्रह्म मुख्य गौण आदि भेदों से एक पाद् विभूति में प्रगट होता हैं। ब्रह्म का वह चिन्मय मंगल विग्रह एक पाद विभूति के प्राकृत द्रव्यों का नहीं है वह तो त्रिपाद्विभुति से ही आता है अतएव उस दिव्य चिन्मय विग्रह युक्त के लिये ही 'जाई' कहा गया है उसका आना जाना होता है। अतः ब्रह्म की सर्वव्यापकता में 'जाई' कहने से किसी तरह का ननुनच कहने का अवकाश नहीं रहता। इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि ऊपर से उतरने का ही नाम अवतार है।

कुछ महानुभाव अवतार विषय पर भिन्न-भिन्न शंकायें उठाया ही करते हैं और विद्वान् लोग उनका समाधान भी किया करते हैं। यदि इस प्रसंग में विद्वानों के लिये अवतार विषयक समाधानों को संक्षिप्त रूप में दे दिया जाय तो कुछ अनुचित न होगा। अच्छा तो सुनिये—

१—शंका—श्रुति कहती है कि

'जहात्येनां भुक्तभोग्यामजो ऽन्यः।'

ब्रह्म अजन्मा है—

'सदा एक रस-अज अविनासिहिं।'

जो अजन्मा है उनका जन्म कैसे सिद्ध होसकता है? क्योंकि एकही को अजन्मा और जन्मा मानने में 'वदतो व्याघात' दोष होगा? समाधान-प्राकृत् या प्राकृतवत् शरीर का ग्रहण (स्वीकार) करना ही जन्म है अतएव अजन्मा भी सजन्मा हो जाता है जैसे अजन्मा जीव सजन्मा होता है तो क्या ईश्वर जीव से भी कम सामर्थ्यवान् है। वेद ही तो ब्रह्म को अजायमान होकर भी बहुत प्रकार से जायमान होने वाला कहता है—यथा—

'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर्जायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्तिधीरास्तस्मिन्हतस्थुर्भुवनानिविश्वा।।

यजु० अ० ३१ म० १६ ॥

२ शंका—ईश्वर के अवतार का क्या प्रयोजन ?

समाधान—ईश्वर ने नानारोग क्यों बनाया ? ईश्वर ने व्याघ्र, सिंह, रीछ, बिच्छू साँप आदि हिंसक जन्तुओं को क्यों बनाया ? ईश्वर ने निरर्थक दाढ़ी मूंछ आदि क्यों बनाया ? आदिक बातें न पूछ कर उसके अवतार ही का प्रयोजन क्यों पूछा जाता है ? यही नहीं यदि यह भी पूछा जाय कि वेद का ही क्या प्रयोजन है ? तो उपरोक्त सब प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है कि सभी से जीव का कुछ न कुछ लाभ है। जब पूछा जाता है कि जीब के लाभ या हानि से ईश्वर का क्या प्रयोजन है ? तो उत्तर मिलता है कि जीव पर ईश्वर का प्रेम है। प्रेम पात्र पर दया होती है। प्रेम पात्र का लाभ प्रेमी द्वारा हुआ ही चाहे। बस यही उत्तर हमारा भी है कि ईश्वर ने जिस तरह जीवों पर दया करके वेदादिक प्रगट किया उसी तरह जो भक्त भगवन्मूर्ति के दर्शनाभिलाषी हैं, भगवच्चरित्र की इच्छा वाले हैं उन भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करना ही उनका परम लाभ है, अभीष्ट लाभ होना ही उनका परम हित है अतएव एतदर्थं ही भगवान को अवतार लेने की जरूरत पड़ती है। यही सिद्धान्तित किया है कि—

'कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।'

श्री मुखवाणी है कि—

'सब मम प्रिय सब मम उपजाये।'

और—

'सब पर मोरि बराबरि दाया ॥'

३—शङ्का—ईश्वर तो निर्गुण निराकार है । निराकार ईश्वर सगुण साकार कैसे हो सकता है ?

समाधान—वैदिक सिद्धान्त से यद्यपि ईश्वर सदैव दिव्याकार विशिष्ट ही है श्रुति उसके लिये—

'हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्य केश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥
तस्य यथा कप्यासं पुंडरीकमेवमक्षिणी ।'

छान्दो० उ० १।६।६॥

इत्यादि प्राकृतिक आकार रहित होने से ही वह निराकार कहा जाता है और प्राकृतांश से सदैव (अवतार लेने पर भी) निराकार ही है। यदि प्रश्न कर्ता भाई के अनुकूल ही निराकार मान लिया जाय तो भी कोई बाधा उसके साकार होने में नहीं पड़ सकती। तब भी सिद्ध है कि निराकार साकार होता है। जैसे—

'आकाशाद्धि विकुर्वाणो ततः वायुः प्रजायते ॥'

मनु० स्मृ० १॥

निराकार आकाश साकार वायुरूप में परिणत होता है। वैसे निर्गुण निराकार ईश्वर सगुण साकार रूप से अवतरित होता है।

'जो गुन रहित सगुन सो कैसे।
जलहिम उपल विलग नहिं जैसे ॥'

क्या हम प्रश्न कर्ता भाई से पूछ सकते हैं कि तुम्हारा निराकार ब्रह्म कहां रहता है ? पंचतत्वों में ईश्वर रहता है या

नहीं ? यदि नहीं रहता तो फिर 'अन्तर जायमानो' भी पाठ मिलता है।

कहाँ रहता है। यदि कहीं नहीं रहता तो ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती और यदि आकाशादि में रहता है तो बस सिद्ध ही है कि आकाशादि ब्रह्म का शरीर है क्योंकि जो चेतन जिस द्रव्य में रहता है, जिस द्रव्य को यथेष्ट रूपेण अपने प्रयोजन और नियमन में लाता है तथा उस द्रव्य की स्थिति जिसके आधार पर अवलम्बित रहती है वह द्रव्य उस चेतन का शरीर समझा जाता है। अतः आकाशादि उस (ब्रह्म) के शरीर हुये यही श्रुतिस्मृतियां भी कहती हैं—

'यस्य सर्वं शरीरम्' ॥

बृ० र० उ०

'खं वायुमग्निं सलिलं महींच
ज्योतींषि सत्वानि दिशोद्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

भाग० ११ । २ । ४१ ॥

इसलिये शरीर कल्प होने से ईश्वर साकार हुआ। जब निराकार कहलाने वाला साकार है तो उसके अवतार लेने में क्या बाधा है। मानस में तो साफ साफ कहा गया है कि-

'बिनु पग चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु कर्म करै विधि नाना ।।'
आनन रहित सकलरस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥

तन बिनु परस नयन बिनु देखा ।
ग्रहे घ्रान बिनु वास असेषा ॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी*।
महिमा अमित जाइ नहिं बरनी ॥

'जेहि इमि गावहिं वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसल पति भगवान ॥'

४ शङ्का—नियम है कि दो विरुद्ध धर्म एकत्र नहीं रहते अतः ईश्वर में साकारत्व और निराकारत्व दो विरुद्ध धर्म कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—कुछ साकारत्व निराकारत्व ही नहीं बल्कि ईश्वर में तो अनेकों विरुद्ध धर्म पड़े हुये हैं जैसे—

---

*'करण' का अर्थ है 'इन्द्रिय' करणी का अर्थ हुआ करण (इन्द्रिय) वाला । ब्रह्म की इन्द्रियाँ सब प्रकार के व्यापारों की करने वाली हैं परन्तु वे सर्वथा अलौकिक हैं अर्थात् ब्रह्म की कोई भी इन्द्रिय लौकिक (प्राकृतिक) नहीं हैं, सब दिव्य हैं । वेद भी यही कहता है—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः सश्रृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्' ॥
श्वे० उ० ३ । १६ ॥

यह है अलौकिक करणी का वर्णन, ब्रह्म की दिव्येन्द्रियों के लिये भी वेद कहता है कि—

'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्त्रपात् ।
सभूमि ॐ सर्वं तस्पृत्वा ऽत्यतिष्ठ द्दशांगुलम्' ॥
यजु० वे० ३१ । १ ॥

'सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्' ॥
श्वे० उ० ३ । १७ ॥

'सुभ अरु असुभ कर्म अनुहारी ।
ईस देइ फल हृदय विचारी ॥'

अर्थात् एक काल में ही सृष्टि के अनन्त जीवों में से किसी को पुण्य का फल किसी को पाप का फल तत्तत्कर्मानुसार देता है और किसी देशमें अवर्षण (सूखा) किसी देशमें अति वर्षण (बाढ़) इत्यादि करता है। जैसे ये सब अनेकों विरुद्ध धर्म उसके लिये बाधक न होकर उसकी ईश्वरता के द्योतक ही हैं। वैसे एक काल में ही साकार निराकार रहना उसकी ईश्वरता का द्योतक है, बाधक नहीं।

५—शङ्का—ईश्वर जब अवतार लेकर अयोध्या मथुरा आदि प्रदेशों में उसकी स्थिति कैसे रह सकती है? क्योंकि वह एक है।

समाधान—इस बात को न भूलना चाहिये कि परमात्मा के दिव्य मङ्गल विग्रह का ही देश विशेष में आविर्भाव होता है एवं तद्विशिष्ट स्वरूप को ही अवतार माना जाता है, यही सर्व शास्त्र सिद्धान्त है। किसी रूप (मूर्ति) विशेष को ही ब्रह्म स्वरूप मान लेने से व्यापकाव्यापक का प्रश्न खड़ा होना अनिवार्य है। उस अवस्था में अनेकों विकल्प उठ खड़े होंगे जैसे कि यदि व्यापक माना जाता है तो प्रत्येक देश में उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि होनी चाहिये किन्तु होती नहीं। उसकी अंतर्यामिता का बाध होगा क्योंकि अणु स्वरूप में स्थूल रूप की व्याप्ति कैसे संभवित हो सकेगी। अव्यापक मानने से उसका सर्व फल प्रदातृत्व किसी तरह भी न बन सकेगा। और व्यापकमें ही सर्व फल प्रदातृत्व घटित हो सकता है क्योंकि सर्व साक्षी हुये बिना सर्व फल प्रदायक होना सर्वथा अनुचित है और ईश्वर अनुचित कारी है नहीं। इसलिये व्यापक ब्रह्म स्वरूप से भिन्न ही दिव्य मङ्गल विग्रह ऐसा मानना पड़ेगा अर्थात् स्वयं व्याप्ति

दूसरी है, विग्रह व्याप्ति दूसरी। वह भगवद्विग्रह नित्य विभूति द्रव्य से बना होने के कारण अजड़ होते हुये स्वयं प्रकाश द्रव्य है, क्योंकि नित्यभूति स्वयं प्रकाश द्रव्य है। उसी सच्चिदानन्द मय दिव्य मंगल विग्रह को अवतार कहते हैं।

अतः यह सिद्ध ही है कि ब्रह्म सर्वदा सब देशों में रहता हुआ भी देश विशेष में आविर्भूत होने वाले स्वयं प्रकाश स्वरूप अपने दिव्य मङ्गल विग्रहों में कभी पूर्ण कभी गौण रूप में प्रगट होकर भक्त रक्षण रूप अपनी लीलाओं का संपादन करता है। इसलिये उसमें अव्यापकत्व और उससे होने वाले दोषें का तो सर्वथा निरास ही है।

जैसे आकाश के गुण का किसी भी प्रदेश में न्यूनाधिकत्व नहीं उसी तरह ब्रह्म के किसी भी रूप में न्यूनाधिकत्व नहीं। उसके प्रत्येक रूपों में अनन्तानन्त दिव्य गुणों का अन्यूनाधिक्य रूप से रहना सिद्ध है। हाँ जिस विग्रह विशेष में ब्रह्म की जैसी इच्छा विशेष होती है वैसे ही कार्य होते हैं। और उन्हीं कार्यों के द्वारा भगवद्विग्रहों में पराऽपरत्व किंवा गौणत्व मुख्यत्व आदि भेद माने जाते हैं। अतएव अवतार का रहस्य इतना मात्र ही है कि परमात्मा के दिव्य मंगल विग्रह का देश विशेष में आविर्भूत होना एवं उसी विग्रह विशेष के द्वारा कार्य विशेष का संपादन होना। और सर्व शास्त्र संमत यही है कि ऊपर से उतरने का नाम अवतार है।

आज कुछ महानुभाव ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि वेदों में तो अवतार की चर्चा ही नहीं है तब रामचरित वेदानुकूल कैसे हुआ। पार्वती ने तो पूछा था—

'बरणहु रघुवर विशद यश श्रुति सिद्धान्त निचोरि।"

और शिव से भी कहलवाया गया कि—

'सुन गिरिजा हरि चरित सुहाये।
विपुल विसद निगमागम गाये ।।'

इत्यादि । 'वेदों में अवतारवाद नहीं है' ऐसा कहने वाले वे भूले भाई सचमुच में दयनीय हैं। भगवान श्री राम जी उनको सुमार्ग पर लाकर उनका कल्याण करें। श्रीरामचरित मानस में जिन जिन अवतारों का स्पष्ट उल्लेख है उनका वर्णन तों वेदों में है ही और भी अन्य कितने ही अवतारों का वर्णन वेदों में। उनके लिये मानस में कहा गया है कि—

'तब तब प्रभुधरि विविध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।
जब जब नाथ सुरन दुख पायो।
नाना तनुधरि तुमहिं नसायो ।।'

इत्यादि, 'विविधि शरीरा' के विषय में वेद इस तरह कहता है कि—

'आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद।
ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।।'

अथर्व वेद ५। १। २ ।।

इस श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि हे प्रभो जब धर्म को पीड़ा पहुँचती है तो आप 'पुरूणि (बहुत) वपूंषि (शरीरों को) कृणुषे (धारण करते हैं)' शरीर भी अनेकों प्रकार के धारण करते हैं यथा—

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातोभवसिविश्वतोमुखः।।'

अथर्व वेद १०। ८। २७।।

उन विविधि में दश प्रधान हैं। यथा—

'जाके नाम लिये छूटत भव जन्म मरन दुख भार।
अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनमे दस बार॥'

वि० प०॥

वेद भी यही कहता है—

'रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ताह्यस्य हरयः शतादश॥'

ऋग्वेद मं ६ सू० ४७ सं० १८॥

श्रुत्यर्थ (यः) इन्द्रः[1] =जो परमैश्वर्यमान परमात्मा। रूपंरूपम्= प्रत्येक रूप में। बभूव=व्याप्त (हो गया) है। तत्=वह। अस्य= इस। रूपं=रूप को। प्रतिचक्षणाय=प्रसिद्ध करने के लिये। (स्व) मायाभिः[2]=अपनी इच्छा अथवा कृपा से। पुरुरूप= बहुत रूप। ईयते=धारण करता है। हि=निश्चय करके। अस्य=इस (उपरोक्त) हरयः=पाप ताप हरण करने वाले परमात्मा के। शता=सैकड़ों[3] (अनन्त) रूप। युक्ता संपूर्ण जगत की रक्षा में लगे हैं। दश=दश (उनमें प्रधान हैं) मानस में वर्णित अवतारों के वर्णन वेदों से नीचे दिये जाते हैं।

'मीन कमठ शूकर नर हरी। वामन परशुराम वपुधरी॥'

मानस॥

१=इदि—परमैश्वर्ये धातु से निष्पन्न इन्द्र शब्द यहाँ परमात्मा वाची है। अदिति पुत्र देव विशेष का वाचक नहीं है।

२='माया वयुनं ज्ञानम्' इति वैदिक निघण्टौ; 'माया दंभे कृपायां च—' इति कोषे॥

३='शतं सहस्रमयुतं सर्वं ह्यानन्त्य वाचकाः॥'

महाभारत वनपर्व २१६।८॥

मीन—'मनवे हवै प्रातः अवनेग्यमुदकमाजस्त्रुर्यथेदं। पाणिभ्यामवने जनाया हरन्त्येव तस्याव ने निजानस्य मत्स्यः प्राणी आवेदे ॥'

शत० १।८।१४।१॥

कूमठ—'अन्तरतः कूर्म भूत उदतिष्ठत।'

तैत्ति० उ० १।२३।३।

शूकर—'वराहेण पृथिवी संविदाना,
शूकराय विजिहीते मृगाय ॥'

अथर्व० अ० १२। अनु० १ म० ४८॥

'उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शत बाहुना ॥'

तैत्ति० उ० १।१।३०॥

'इयतीह वाइप मग्रे पृथिव्या सप्रादेश मात्रो तामेभूष। इति वराह—उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापति रिति ॥'

शत० १४।१।२।११॥

नरहरी—(नृसिंह)—

'नरसिंहः प्रचोदयात् ॥'

तैत्ति० १।१।३१॥

वामन—'वामनोह विष्णुरास।'

शत० १।२।२।५॥

इदं विष्णुर्विचक्रमें त्रेधानिदधे पदम्।
समूढ़मस्य पा ॐ सुरे स्वाहा ॥'

यजु० अ० ५ मं० १५॥

परशुराम— 'रामो भार्गवेयः ।'

ऐतरेय उ० ७ । ५ ३४ ॥

'सोभा दसरथ भवनकै को कवि बरनै पार ।
जहाँ सकल सुरसीसमनि रामलीन्ह औतार ॥'

मानस ॥

'भद्रो भद्रया सचमान आगात्स्वसारं जारोअभ्येति पश्चात् ।
सु प्रकेतै द्यु भिरग्निर्वितिष्ठन्रु शद्भिर्वर्णै रभि राममस्थात् ॥'

ऋग्वेद १० । ३ । ६ ॥

श्रुत्यर्थ—भद्र=श्रीरामजी । भद्रया श्री सीता जी सहित । सचमान=साज बनाकर । अगात्=गये (दंडकारण्य को तब) । स्वसारम्=सीता जी को (हरण करने के लिये) । जारः=रावण । अभ्येति=आया । पश्चात्=रावण बध एवं सीता अग्नि प्रवेश के बाद । सु प्रकेतैः=उत्तम लक्षणों से युक्त । द्युभिः=द्युलोक (मोक्ष) की साधन भूता श्री सीता जी सहित । अग्निः=अग्नि नामक प्रसिद्ध देवता । रामम्=राम के सन्मुख । अस्थात्=तू उपस्थित होता है ॥

'राम वाम दिसि सीता सोई ।'
'सो अवतरिहिं मोरि यह माया ॥'

मानस ॥

'अर्वाची सुभगे भव सीते ! वन्दामहेत्वा ।
यथा नः सुभगा, ससि यथा नः सुफलाससि ॥'

ऋग्वेद मं० ४ सू० ५७ मं० ६ ॥

'जब जदुबंस कृष्ण अवतारा।
होइहिं हरन महा महिभारा॥'

मानस॥

'तद्धैतद्धोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वोवाचेति॥'

छा० उ० ३।१७॥

एष नारायणः साक्षात् क्षीराब्धि निकेतनः।
नाग पर्यंकमुत्सृज्य ह्यागतो मथुरा पुरीम्॥'

गो० ता० उ०॥

आर्य समाजी भाइयों का कहना है कि 'जब ईश्वर अवतार लेगा तो उसे शरीर धारी बनना पड़ेगा और वेद उसे शरीर रहित बतलाता है' अपने इस कथन की पुष्टि के लिये यजुर्वेद संहिता के चालीसवें अध्याय के आठवें मन्त्र को बड़े दावे के साथ सामने पेश करते हैं, मन्त्र यह है—

'स पर्यगाच्छुक्रमकायम
व्रणमस्नाविर ँ शुद्धमपाप विद्धम्॥
कवि र्मनीषी परिभूःस्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽ
र्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥'

यजु० वे० ४०।८॥

इस पद में आये हुये 'अकायम्' पद ही उनके सिद्धान्त रूपी किले की दीवाल है। वह दीवाल भी कैसी कि पानी के ऊपर बालू की। आर्य-समाजी भाई 'अकायम्' के साथ वाले 'अव्रणम्' 'अस्नाविरम' और 'अपाप विद्धम्' पदों को बिना उपसेचन (घी चटनी आदि) के ही गटक जाते हैं। यह नहीं सोचते कि जब शरीर ही नहीं तो फिर 'व्रण-फोड़ा फुंसी

घावादि स्त्रावानस और पाप का निषेध क्यों किया गया क्योंकि बिना शरीर के तो व्रणादि होते नहीं। बिना शरीर के इनका वर्णन करना तो 'तव माता बन्ध्या' कहने के समान पागल प्रलाप ही माना जायगा। यह किसी भी वैदिक को अभीष्ट नहीं, वैदिक प्रजा का तो दृढ़ मन्तव्य है कि 'बुद्धि पूर्वा कृतिः' अर्थात् वेद में जो कुछ है वह विचार पूर्वक ही है अनर्गल पागल प्रलाप नहीं। ईश्वर से बढ़कर बुद्धिमान कोई हो नहीं सकता तब वेद के कथन पर ननुनच कैसी। समाजी भाई यह भी नहीं सोचते कि इसी मन्त्र के उत्तरार्ध में ईश्वर को (परिभूः) सब तरह से प्रगट होने वाला और (स्वयंभू= स्वयं—स्वेच्छया भवतीति स्वयंभूः) अपनी इच्छा से अवतार लेने वाला क्यों कहा गया है। अतः अकायम् का अर्थ किसी भी संस्कृतज्ञ को करना पड़ेगा तो वह यही अर्थ करेगा कि 'चित्र चयने' धातु से कायम् शब्द निष्पन्न होता है अतएव यही अर्थ होता है कि--

'चिनोति पुण्य पापात्मक सुख
दुखादिकँ यस्मिँ स्तत् कायम्।
तदेवं भूतं कायं नास्ति
यस्य स अकायम् ईश्वरः ॥'

अर्थात् पुण्य पापात्मक सुख दुखादि ईश्वर के शरीर में नहीं ही है। क्योंकि ईश्वर का शरीर चिदानन्दात्मक है इसी से व्रण स्राव आदिक विकार उसमें नहीं है यथा—

'चिदानन्द मय देह तुम्हारी।
रहित विकार जान अधिकारी ॥

वेद भी भगवच्छरीर को सच्चिदानन्दमय कहता यथा—

'ॐ यो वै श्री रामचन्द्रः
स भगवान् यःसच्चिदानन्दा—
दै तै क रसात्मा भूर्भुवः
स्वस्तस्मै वै नमोनमः ॥

अथर्ववेद रा० ता०

'वीरो रामो महातेजा सच्चिदानन्द विग्रह' ॥

सनत्कुमार संहिता ॥

'पद श्रवणं करानन वा बाणी त्वक्
नयन नासिकादि विषयाधीशै—
र्विवर्जितो रामो साक्षात्परं ब्रह्म बिग्रहः
सच्चिदानन्दात्मक बिग्रहः ।'

सनत्कुमार संहिता ॥

यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में तो ईश्वर की दो पत्नियों के नाम भी स्पष्ट हैं—

'श्रीश्च ते लक्ष्मी च पत्न्यौ ।'

यजुर्वेद ३१।२२।'

जब ईश्वर के शरीर ही नहीं तो दो दो पत्नी कैसी। यजुर्वेद के २६ वें अध्याय के दूसरे मन्त्र के 'स्वाय' पद की व्याख्या करते हुये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने भाष्य में लिखा है '(ईश्वर) स्वाय—अपने स्त्री सेवक के लिये। सुख देने वाली चारों वेद के रूप वाणी का उपदेश करता है।' आर्य समाजियों के आचार्य तो ईश्वर को उपदेश करने वाला एवं स्त्री तथा सेवकों वाला लिखैं और उनके अनुयायी उसे

बिना शरीर वाला ही माने तो 'किमाश्चर्यमतः परम्'। स्वामी दयानन्द जी ने अपने आर्याभिनव के ४४ वें मन्त्र में—

'इन्द्रो यो दश्यूँरधराँ अवातिरन्
मरूत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥'

ऋग्यवेद मं० १ सं० १०१ मं० ५ ॥

इसको देकर अर्थ किया है, कि 'जो परमैश्वर्यवान् परमात्मा डाकुओं को नीचे गिराता है तथा उनको मारही डालता है, आओ मित्रों भाई लोगों! अपने सब संप्रीति से मिल के मरूत्वान अर्थात् परमानन्द बलवाले इन्द्र परमात्मा को सखा होने के लिये अत्यन्त प्रार्थना से गद्गद् हो के बुलावें, वह शीघ्र ही कृपा करके अपने से सखित्व (परम मित्रता) करेगा इसमें कुछ सन्देह नहीं।' धन्य है आर्य समाजी बंधुओं को, वे तो ईश्वर को बुलाओ वह आकर तुमसे सखित्व (परम मित्रता) करे और—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ॥'

ऋग्वेद म० १ सू० १६४ मं० २०

एवं—

'स्वारथ रहित सखा सबही के।
प्रान प्रान के जीवन जी के ॥'

मानस के अनुसार जो ईश्वर सदैव से सबका सखा है (कुछ नया सखित्व जोड़ना नहीं है) उसे यदि हम सनातनी श्री वैष्णव गण बुलावें, अवतार मानें तो कहते हैं कि ईश्वर के तो शरीर ही नहीं अवतार क्योंकर लेगा। उन लोगों के इस तरह पूर्वापर असंलग्न व्याख्या एवं सिद्धान्त को सुनकर सहस यही मुख से निकलता है कि—

'आश्चर्यं महादाश्चर्यम् ।'

शङ्का—

'निर्गुण निराकार निर्मोहा ।
नित्य निरंजन सुख संदोहा ॥'

अर्थात् ईश्वर तो सदैव ही निर्गुण निराकार आदि लक्षणों वाला है। परन्तु जिन्हें अवतार माना जाता है वे तो प्रत्यक्ष ही गुणवान, शरीर (आकार) विशिष्ठ, मोहाच्छन्न, प्रपंच (व्यवहार) लिप्त और दुखी देख पड़ते हैं तो वे भगवद-वतार कैसे ?

समाधान—

'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी ।
महादेव तब कहा बखानी ॥'

इन शंकाओं को समझाने के लिये श्री शिवजी को बहुत कहना पड़ा फिर भी सब का निचोड़ कुछ चौपाई तथा एक दोहे में कहा है, मैं उनको ही यहाँ लिख कर तब आगे बढ़ना चाहता हूँ।

शिवजी ने प्रथम तो शंका को ही अज्ञानजन्य एवं कल्पित कहा कि-

'जिनके अगुन न सगुन विवेका ।
जल्पहिं कल्पित वचन अनेका ॥'

आदि, फिर भी उठी हुई शंका का समाधान तो करना ही चाहिये क्योंकि निर्भ्रम को शङ्का कैसी। शङ्का तो भ्रम वाले को ही होती है इसी लिये—

'सुनु गिरि राजकुमारि भ्रम तम रविकर वचन मम ।'

कहकर समाधान करना आरम्भ किये। हम पहिले बता आये हैं कि 'मायावादियों का कहना है कि शुद्ध ब्रह्म निर्गुण है और अज्ञानाच्छादित अशुद्ध वह सगुण है। वही मायोपहित ब्रह्म ईश्वर कहलाता है और अवतार लेता है और अतिशय अविद्या जन्य मोहावृत होने से वह जीव भी कहलाता है। परन्तु शिवजी से तो श्रुति सिद्धान्त निचोड़कर रघुपति के विशद यश कहने की प्रार्थना की गई है। इसीसे शङ्करजी भगवदवतार की लीलाओं के कहने के पहिले अवतार विषयक संदेहों के निमूल करने के लिये कहते हैं कि-

मूल—'अगुणहिं सगुणहिं नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुराण बुध वेदा॥'

व्याख्या-

निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं अर्थात् अविद्याऽऽच्छादन रूप भेद पड़ जाने से वह सगुण कहाता हो अथवा माया का आवरण हट जाने से वह निर्गुण कहाता हो सो यह बात नहीं है क्योंकि वह प्राकृत हेय गुण रहित होने से निर्गुण और दिव्योपादेय कल्याणाद्यनन्त गुण गण युक्त होने से सगुण कहा जाता है। यह हम ही नहीं कहते प्रत्युत मुनि, पुराण, बुध और वेद सभी कहते हैं यथा मुनि—

'निरंजनं निष्प्रतिमं निरीहं निराश्रयं निष्कलमप्रपंचम्।
नित्यं ध्रुवं निर्विषयस्वरूपं निरंतरं राममहं भजामि॥'
नारद॥

'रामः सत्यं परं ब्रह्म रामात्किंचिन्न विद्यते।
तस्माद्राम स्वरूपोऽयं सत्यं सत्यमिदं जगत्॥'
व्यास॥

पुराण—'परमानन्द सन्दोहो ज्ञान मात्रश्च सर्वशः ।
सर्वं गुण परिपूर्णां सर्वे दोष विवर्जितः ॥'

वाराह पुराण ॥

'समस्त कल्याण गुणात्मकोऽसौ
स्वशक्ति लेशाद्धत भूत सर्गः ॥
तेजो बलैश्वर्यं महावबोध स्सुवीर्य
शक्त्यादि गुणैक राशिः ।
परः पराणां सकला न यत्र
क्लेशादयः संति परावरेशे ॥'

विष्णु पुराण ६ । ५ । ८४ । ८५ ॥

'समस्त हेय रहितं विष्ण्वाख्यं परमं पदम् ।'

विष्णु पुराण १ । २२ । ५३ ॥

'सत्वादयो न संतीशे यत्र च प्राकृतागुणाः ।
सशुद्धः सर्व शुद्धिभ्यो पुमानाद्यः प्रसीदतु ॥
योसौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः ।
प्रकृतैर्हेयसत्वाद्यै गुण हीनत्वमुच्यते ॥

वि० पु०

बुध—

निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो
हेय गुण संबंधाद्युपपद्यन्ते ।

जगद् गुरू श्री रामानुजा चार्यजी ।

स्वंभावतोऽ पास्य समस्त दोष
मशेष कल्याण गुणैक राशिम् ।

जगद् गुरू श्री निम्बार्काचार्य जी।

वेद—

'पराऽस्य शक्ति विविंधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रियाच ॥'

श्वे० उ० ६।८॥

'आत्माऽपहत पाप्मा विजरो विमृत्यु
विंशोको विजिघत्सोऽविपासः
सत्य कामः सत्य संकल्पः

छान्दोग्य० ८।७।१॥

नोट—मुनि पुराणादिक सम्पूर्ण (उद्धरणों का अर्थ एक ही है ।)

**मूल—'अगुण अरूप अलख अज जोई ।
भक्त प्रेम वस सगुन सो होई ॥'**

व्याख्या—प्राकृत गुण (काम क्रोधादि) रहित जनका स्वभाव और प्राकृत रूप (गौरत्व श्यामत्व तथा बाल पौगण्ड युवा जरा अवस्थापन्न रूप) रहित तथा भौतिक गुण विशिष्ट श्रोत्र, चक्षु आदि प्रकृत इन्द्रियों से अगोचर और जन्म मरणादि विकारों से रहित जिनका शुद्ध सत्वात्मक दिव्य विग्रह है। वे ही प्रभु श्री रामजी अपने भक्तों के प्रेम वश होकर दिखाने मात्र को प्राकृत गुण (काम क्रोधादि का) भी ग्रहण करते हैं। यथा-

'शुद्धं धाम्न्युपरताखिल बुद्ध्यवस्थं
चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् ।
तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्यामास्ते
भवान परिशुद्ध इवात्म तन्त्रः ॥'

भाग० ४ । ७ । २६ ॥

अर्थ—'(हे प्रभो) आप सदैव शुद्ध स्वरूप हैं (कभी अशुद्ध नहीं होते) मायिक बुद्धि के सम्पूर्ण अवस्थाओं से परे हैं; सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, समाधिक रहित (निरूपम) हैं, निर्भय हैं; माया रहित अर्थात् कभी मायोपहित—मायाधीन नहीं हैं और स्वतंत्ररूप से सदैव एक रस स्थित रहते हैं। ऐसे होते हुये भी आप पुरुष लीला करने के लिये प्रकृति को स्वीकार करके (लीला काल में) अज्ञानियों की तरह नाटय करने लगते हैं ॥' क्योंकि

'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्'

वेदान्त दर्शन ॥ २ । १ । ३ ॥

'नट कृत कपट चरित रघुराया ।'
'नर गति भगत कृपालु देखाई ।'
'जस काछिय तस चाहिय नाचा ।'

इसलिये—

'यहि विधि खोजत विलपत स्वामी ।
मनहु महाविरही अति कामी ॥
'नारि विरह दुख लहेउ अपारा ।

भयउ रोष रन रावन मारा ॥'

'तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा' ॥

आदि—अपने दिव्य विग्रह में रहते हुये भी भक्त प्रेमवश प्रकृत रूपोचित अवस्थाओं का ग्रहण करते हैं यथा—

'सो अज प्रेम भक्ति वश कौसल्या की गोद' ।

बाल विनोद करत रघुराई ।

विचरत अजिर जननि सुखदाई ॥

भये कुमार जबहिं सब भ्राता ।

'वय किशोर सरिपार मनोहर वयस शिरोमणि होने ।

मुखमसि भिनत लोनाई ।

गीतावली

इसीसे (भक्त प्रेम वश ही) प्रकृत इन्द्रियों से ग्राह्य भी होते हैं यथा—

'नयन विषय मोकहँ भयउ' ।

'समरथ धाइ विलोकहिं जाई ।'

'सब शिशु यहि मिस प्रेमवश परसि मनोहर गात' ॥

इत्यादि ।

परम कृपालु परमात्मा जब तक अपने दिव्य विग्रह में किंचित्मात्र भी प्रकृतपना स्वीकार नहीं करता तबतक प्रकृत इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता, क्योंकि शास्त्रों में वर्णन है कि दिव्य इन्द्रियों से ही ईश्वर के ऐश्वर्य—मय दिव्यरूप का दर्शन होता है यथा—

'एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ोत्मा न पकाशते'।
दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः॥

क० उ० १ ३ । १२ ॥

'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।'
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।'

क० उ० २ । ३ । ६ ॥

'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्व चक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥'

गीता ११ । ८ ॥

प्राकृत इन्द्रियों के गोचर नहीं है यथा—

'यतो वाचो निवर्तन्तऽप्राप्य मानसा सह ।'

गीता०

'मन समेत जेहि जान न वाणी' । इत्यादि ।

मूल—

'जो गुन रहित सगुन सो कैसे ।
जल हिम उपल विलग नहिं जैसे ॥'

व्याख्या—

'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा ।'

में कहीं हुई अभेदता को स्पष्ट करते हैं कि जैसे—जल और ओले में केवल द्रवत्व और कठिनत्व का भेद रहता है अर्थात वही पदार्थ जब द्रवत्व और कठिनत्व विशिष्ट रहता है तव हिम उपल (ओला या बर्फ) कहा जाता है और जब द्रवत्व विशिष्ट तथा कठिनत्व रहित रहता है तब जल कहा जाता है। केवल

कठिनत्व तथा द्रवत्व के उद्भूतत्वानुद्भूतत्व के कारण उसको दो नामों से कहा जाता है।

'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति।'

छा० उ० ६। ३। ३॥

इस श्रुति के अनुसार अप तत्व में चतुर्थांश तेजतत्व तथा चतुर्थांश पृथ्वीतत्व है। इसलिये जिस समय तेज तत्वकी प्रबलता रहती है उस समय अप तत्व द्रवत्वाधिक्य के कारण जल कहा जाता है और जिस समय पृथ्वीतत्व की अधिकता रहती है उस समय वही अप् तत्व काठिन्याधिक्य के कारण हिमोपल-ओला, बर्फ आदि शब्दों से कहा जाता है। केवल इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नहीं रहता। उसी तरह स्वाभाविक दिव्य गुण विशिष्ठ सगुण और स्वाभाविक हेयगुण रहित निर्गुण में केवल ऐश्वर्य तथा माधुर्य के गोपनत्व और प्रदर्शनत्व मात्र का भेद रहता है। अर्थात् जब ब्रह्म अपने ऐश्वर्य के आधिक्य का गोपन करके माधुर्य के आधिक्य का प्रदर्शन प्राकृतेन्द्रिय विशिष्ठ जीवों को कराता है तब सगुण और जब माधुर्याधिक्य का गोपन करके केवल शास्त्रों द्वारा ऐश्वर्याधिक्य का प्रदर्शन कराता है तब निर्गुण कहा जाता है। जिस तरह अप तत्व के कठिनत्व एवं द्रवत्वाधिक्य का कारण पृथ्वी और तेज की उद्भूतता तथा अनुद्भूतता है उसी तरह ब्रह्म के उभयरूप प्रदर्शनत्वकाकारण—

'भक्त प्रेम वश सगुण सो होई।'
'सोइ दशरथ सुत भगत हित॥'

के अनुसार भक्ति परवशता (करुणादि) प्रगट करने से सगुण तथा इससे भिन्न ईश्वरत्व प्रदर्शनकाल में निर्गुण कहाता है।

मूल—

'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा।
'तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा' ॥

व्याख्या=श्री शङ्कराचार्यजीने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में उपोद्घातरूप से

'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः'

से लेकर

'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽयमध्यासो
मिथ्या प्रत्ययरूप—
कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रवर्तकः सर्वलोक प्रत्यक्षः ॥'

तक बड़े विस्तार से लिखा है कि 'अविद्या जन्य भ्रम एवं अज्ञानादि होने के कारण ब्रह्म ने अपने में जगत का आरोप करलिया है जिससे उसे जीव बन जाना पड़ा।'

सारांश यह कि ब्रह्म में अज्ञान तथा तज्जन्य भ्रम एवं मोहादि होते हैं स्मरण रखना चाहिये कि यदि यथार्थ ही ऐसा होता तो फिर जीव की निष्कृति ही न हो सकती क्योंकिअनादि, अनन्त तथा नैसर्गिक वस्तु अध्यास का कभी किसी तरह नाश ही नहीं हो सकता और तब इस दशामें मोक्षोपाय प्रदर्शक सम्पूर्ण श्रुति स्मृतियों की वैयर्थ्यता को कोई दूर ही नहीं कर सकेगा, परन्तु ऐसा है नहीं। इस विषय में परम तत्वज्ञ श्री गोस्वामीजी अपनी ओर से कुछ न कह कर त्रिभुवन गुरु भगवान् श्री शङ्करजी के ही वाक्यों का अनुवाद कर देते हैं कि भला—

'यस्य नाम महद्यशः।

यजुर्वेद ॥ ३२। ३॥

'ज्ञान मार्ग च नामतः ।

अथर्ववेद ॥

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥'

गी० ८ । १६ ॥

इत्यादि श्रुतियों से जब यह निश्चय है कि—

'भव बन्धन त छूटहिं नरजपि जाकर नाम ।'

के अनुसार जिस ब्रह्म का नाम ही भ्रमान्धकार का नाशक सूर्य है उसके विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह माया से आच्छादित होने के कारण विमोह को प्राप्त होगया है । क्योंकि ब्रह्म का नाम, स्वरूप (त्रिपाद्विभूततिस्थ विग्रह) और रूप (लीला विग्रह) सभी सच्चिदानन्द है यथा -

'नाम—स्वभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्त रूपी स्वेनैव भासते' ।

अथर्व०

स्वरूप—

'विभु चिदानन्दमयं स्वरूपम्' ।

सनत्कुमार संहिता

'सत्यं ज्ञानमनतं ब्रह्न'

तैत्तिरीयोपतिषत् २ । १ । १

रूप

'सत्यानन्दं चिदात्मकम्'
'रामचन्द्रश्चिदात्मकः' ।

अथर्व० इत्यादि ।

जैसे सूर्य के ऊपर धूलि फेंकने से वह धूलि फेंकने वाले के ही ऊपर पड़ती है वैसे सच्चिदानन्दात्मक नाम रूपवाले ब्रह्म में मायोपहित भ्रम मोह और अज्ञानादि का आरोपण करने से आरोप करने वाले का ही भ्रम सूचित होता है।

मूल—

'पुरुष प्रसिद्ध प्रकाशनिधि प्रगट परावर नाथ।
रघु कुलमणिमम स्वामि सोइ··· ··· ··· ॥'

१ व्याख्या—

पुरुष=(क) 'पुरिशेते—इति पुरुषः' अर्थात् जीव तथा प्रकृति रूप। स्व शरीर ('यस्य पृथिवी शरीरम् 'यस्य सर्वं शरीरम्' यस्याऽऽत्मा शरीरम्') इत्यादि वृहदारण्यकोपनिषत् तथा मध्यन्दिनी शाखा में वर्णित श्रुति सिद्धान्त के अनुसार पुरी में सोने वाले अर्थात् अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित रहने से परब्रह्म श्री रामजी ही पुरुष हैं यथा—

'राम ब्रह्म चिन्मय अविनाशी।
सर्व रहित सब उर पुर वासी॥'

(ख)

नाना शरीर धारण करने पर भी पुरुष ही कहाते हैं—

'तब तब प्रभु धरि विविधि सरीरा।'
'नाना तनु धरि तुमहिं नसावा।

(ग)

पुरु—बहु (सृष्टिः) स्यति—खंडयति (संहरति स पुरुषः श्रीराम.। सृष्टि के प्रलय कर्ता—

'भुवनेश्वर कालहु कर काला।'

(घ)

पुं—नरकं, स्यति—खंडयति सपुरुषः। जो नरक को नाश करदे अर्थात अपने नाम रूप लीलादि के द्वारा जो भक्तों को नरक से बचाले। तात्पर्य यह कि नरक ले जाने वाले कामों को सर्वथा नष्ट कर देने वाले को पुरुष कहते हैं। वह पुरुष श्री राम जी ही हैं यथा—

'सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघनासौं तबहीं॥'

प्रश्न—

कर्मानुसार भोग्य रूप मिले हुये अनेकों शरीरों में सोने से जीव भी पुरुष शब्द से विशेषित किया जाता है यथा—

'पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषि देवताः।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ॥'
भाग० ७। १४। ३७॥

अथवा—'पुं—नरकं, स्यति खण्डयतीति पुरुषः' इस व्युत्पत्ति से कर्म ज्ञान उपासनात्मक काण्डत्रय को भी पुरुष शब्द से लिया जा सकता है। क्योंकि इन प्रत्येक से भी नरक प्रद पाप नष्ट होते हैं। तो क्या इस दोहे में आये हुये पुरुष शब्द से जीव अथवा कांडत्रय का ग्रहण किया जा सकता है?

उत्तर—

नहीं! क्योंकि यदि केवल पुरुष शब्द ही कह कर श्री शिव जी ने छोड़ दिया होता तो भले ही किसी और का ग्रहण हो सकता परन्तु आगे वाले विशेषण प्रसिद्ध' 'प्रकाशनिधि' आदि अन्यों में संगठित ही नहीं हो सकते। इसलिये यहां पुरुष शब्द से परमात्मा का ही प्रतिपादन है अन्य का नहीं। और भी

'पुरु सनोतीति पुरुषः' (षणु-दाने) पुरु पूर्वक दानार्थक 'षणु' धातु में 'ड' प्रत्यय लगाने से पुरुष शब्द बन कर यह अर्थ देता है कि जो बहुत (अक्षय) आनन्द अर्थात मोक्ष दे उसे पुरुष कहना चाहिये। मोक्ष प्रदातृत्व अर्थ जीव में घट ही नहीं सकता क्योंकि मुक्ति तो परमात्मा के हाथ की चीज है। जीव बेचारा कैसे किसी को दे सकता है। जैसा अयोध्या नरेश महाराज मुचुकुन्द से इन्द्रादि देवताओं ने कहा था कि—

'वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्यनः ।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः ॥

भाग० १० । ५१ । २० ॥

इसी से भगवान को दानि शिरोमणि कहा गया है यथा-

'दानि शिरोमणि कृपानिधि ।'

मानस बा० का० १४९

'एकै दानि शिरोमणि साँचो ।'

विनय पत्रिका ॥

और भगवान ने स्वयं भी मनु से यही कहा था कि—

'मांगहु वर जोइ भाव मन महा दानि अनुमानि ।'

अतः यहाँ पुरुष शब्द परमात्मा परक ही हैं।

२—प्रसिद्ध—इसका एक अर्थ तो विख्यात ही है परन्तु दूसरा है 'उभय विभूति नायक श्री राम जी' वह इस तरह कि 'सिद्ध' शब्द में प्र उपसर्ग लगा कर प्रसिद्ध शब्द बनाया गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि उभय विभूति की सिद्धि विना किसी उपाय किये स्वाभाविक ही जिनको प्राप्त है वह उभय विभूति नियन्ता परं ब्रह्म श्री राम जी हैं

यथा—

'एतावानस्य महिमाऽ तो ज्यायाँश्च पूरुषः ।'

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥'

यजु० ३१ । ३ ॥

'भोग स्थान परायोध्या लीला स्थानत्विद भुवि ।

भोग लीला पतीरामो निरंकुश विभूतिकः ॥'

सदाशिव संहिता पटल २ अ० ५ ॥

'प्रणतपाल सचराचर नायक ।'

३—प्रकाशनिधि—सूर्य, चन्द, नक्षत्र, ग्रह, आवहनीय अग्नि और जठराग्नि आदि सभी ज्योतिष्मानों का प्रकाश जिसके द्वारा संपादित होता हो उसे 'प्रकाशनिधि' कहा जाता है, वह प्रकाशनिधि श्री राम जी ही हैं यथा—

'विषय करण सुरजीव समेता ।

सकल एक ते एक सचेता ॥

सब कर परम प्रकासक जोई ।

राम अनादि अवधपति सोई ॥'

'हेतु कृशानु भानु हिम करको ।'

'अहं वैश्वनरों भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः ।'

गी० १५ । १४ ॥

'ज्योति श्चरणाभिधानात्'

वेदान्त दर्शन १ । १ । २५ ॥

'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते,

विश्वतः पृष्ठेषुसर्वतः पृष्ठेषु

अनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्य
दिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः ॥'

छान्दो० ३।१३।७॥

४—प्रगट—प्रत्यक्ष अथवा वेद पुराणादि में प्रगट अर्थात् प्रतिपाद्य यथा—

'यहि महँ आदिमध्य अवसाना।
प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥'

'वेदान्त वेद्यं कविमीशितारं सनातनं राममहं भजामि ॥
'वेदान्त वेद्यं विभुम् ॥'

सनत्कुमार संहिता ॥

'वेद वेद्ये परेपुंसि जाते दशरथात्मजे ॥'

स्क० पु० ॥

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ॥'

गीता १५।१५॥

५—परावर नाथ—सूक्ष्म चिदचित् अर्थात कारणावस्थापन्न (सृष्टि के पूर्व कालीन) जीव तथा प्रकृति के 'पर' और स्थूल चिदचित् अर्थात् कार्यावस्थापन्न (सृष्टि के उत्तरकालीन) जीव तथा प्रकृति को 'अवर' कहते हैं। इन (पर-अवर दोनों के नाथ श्री राम जी हैं। अथवा-

'भिद्यते हृदय ग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' ॥

मुण्डयो० २।२।८॥

इस श्रुति के अनुसार 'परावर' शब्द परमात्म वाची होने से यहाँ परावर और नाथ में कर्मधारय समास करने से

अर्थ होगा जो परावर हैं और नाथ हैं जिसका तात्पर्य यह होगा कि पर (अवतारी) अवर (अवतार) और नाथ अर्थात् सर्वेश्वर या सर्वज्ञ अर्थात् रघुकुलावतीर्ण रामजी ही मेरे स्वामी हैं वे ही श्री राम जी अवतारी, अवतार तथा सर्वेश्वर हैं।

६—मम स्वामि सोइ—'सोइ' कहने का भाव यह कि—

'अवधपुरी रघुकुल मनि राऊ।
बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊँ॥'
'रघुकुल मनि दसरथ के जाए।'

इत्यादि स्थानों पर दसरथ आदि को भी रघुकुलमणि कहा गया है। परन्तु उपरोक्त 'पुरुष, प्रसिद्ध प्रकाशनिधि' आदि विशेषण दशरथादि में संघटित नहीं हो सकते हैं और उनमें शिवजी का स्वामित्व भाव भी नहीं हैं। इसी से 'सोइ' कहा अर्थात् जो उपरोक्त विशेषणों से बिशिष्ठ हैं वे ही श्री राम जी मेरे स्वामी हैं अन्य नहीं। यहाँ रघुकुल मणि कहने का कारण यही है कि इस समय अवतार विषयक शंकाओं के समाधान करने का प्रकरण चल रहा है।

मूल—

'निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी।
प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥'

व्याख्या—जिनका धर्म भूतज्ञान अनन्त पापों के कारण संकुचित रहता है तथा शास्त्र जन्य ज्ञान भी यथार्थ में प्रस्फुटित नहीं रहता वे ही अज्ञानी (मूर्ख) लोग अपना भ्रम तो समझते ही नहीं कि 'अनन्त शुभाशुभ कर्म प्रवाह में पड़कर हम नाना योनियों में भटकते हुये नाना प्रकार के भौतिक सुख दुखादि

का अनुभव करते रहते हैं परन्तु ईश्वर में मोहादिका आरोपण करते हैं कि—

(क) मोहावृत हो जाने से ब्रह्म अशुद्ध हो जाता है और वही अविद्यावच्छिन्न अशुद्ध (कार्य) ब्रह्म अवतारादि लेता है।

(ख) अथवा उसके लीला नाट्य को देखकर सचमुच ही उसे सुखी एवं दुखी मान लेते हैं।

यह उनका भ्रम है क्योंकि ब्रह्म तो कभी मोहावृत होता ही नहीं। यथा—

'राम-सच्चिदानन्द दिनेसा।
नहिं तहँ मोह निशा लवलेसा॥'
सहज प्रकाश रूप भगवाना।
नहिं तहँ पुनि विज्ञान विहाना॥

इसलिये—

(क) अवतार दशा में भी वह शुद्ध ही रहता है अशुद्ध नहीं होता यथा—

'शुद्ध सच्चिदानन्दमय राम भानुकुल केतु।
करत चरित नर अनुहरत संसृत सागर सेतु॥

(ख) अवतार काल में ब्रह्म सचमुच ही दुःखी किंवा सुखी नहीं हो जाता किन्तु लीला रस का भोग करता है यथा—

'परम पुरुषोऽपि लीलार्थं दशरथ वसुदेवादिपितृ लोकादिक सात्मनः सृष्ट्वा तैर्मनुष्य धर्मं लीला रस यथा भुंक्ते।'

श्री भाष्य ४।४।१४॥

(ग) ब्रह्म अज्ञान भ्रमादि के कारण अवतार नहीं लेता किन्तु अपनी इच्छा से अवतार लेता है यथा—

'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुरमहि गोद्विज लागि।'

उसकी प्रतिज्ञा भी ऐसी ही रहती है कि—

इच्छामय नर देह सँवारे।
होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥'

मूल—

'यथा गगन घन पटल निहारी।
झंपेउ भानु कहहिं कुबिचारी।'

व्याख्या—कोई भी आवरण उसी को आच्छादित कर सकता है जिसके कि सन्निकट उसकी स्थिति रहती है, दूरवाले को नहीं। बादल रूपी आवरण (पर्दे) से सूर्य बहुत दूर है और पृथ्वी बहुत नजदीक है इसलिये मेघ गण सूर्य को तो किसी तरह आच्छादित कर नहीं सकते प्रत्युत तेजोराशि सूर्य के समीप जाने पर तो मेघों का विनाश अवश्यम्भावी है। मेघ गण तो पृथ्वी के अत्यन्त सन्निकट होने के कारण अपने आकार प्रकार के अनुसार पृथ्वी के किंचित् अंश को एवं उस स्थान पर स्थित चराचर वर्ग को आच्छादित कर लेते हैं। उन (घनाच्छन्न) चर वर्गों में जो अज्ञानी मनुष्य हैं, वे अपने ऊपर के घनावरण को सूर्य में आरोपण करके कहते हैं कि मेघ ने तो सूर्य को ढंक लिया है; किन्तु समझदार (ज्ञानी) लोग तो समझते और कहते हैं कि इस समय हमारी दृष्टि के सामने मेघों का आवरण आ गया है इसीलिये इस समय हमें सूर्य के दर्शनों से वञ्चित होना पड़ रहा है। यदि वायु चलकर मेघों को उड़ाकर अन्यत्र करदे तो पुनः हमें यसूर्य का

साक्षात्कार प्राप्त हो जावे। यह तो हुआ दृष्टान्त । दृष्टान्त में भी ऐसा ही समझना चाहिये कि सूर्य रूप ब्रह्म में घनावरण रूप माया का आरोपण करने वाला जीव कुविचारी (महा अज्ञानी) है क्योंकि माया ब्रह्म से सदैव दूर रहती है। यथा—

'राम दूरि माया बढ़ति घटति जानि मनमांहि ।
भूरि होत रवि दूरि लखि सिरपर पगतर छाँह ॥'

दोहावली ॥

भाव यह कि इस प्रकार रूप भगवान को माया आच्छादित करना चाहे तो—

गये समीप सो अवसि नसाई

तात्पर्य यह कि ब्रह्म कभी भी माया के वशीभूत (मोहावृत) होता ही नहीं। माया तो बद्ध जीवों को आच्छादित किये रहती है उन बद्ध जीवों में जो धर्मभूत ज्ञान के विशेष संकुचित रहने से शास्त्रों का रहस्य भी यथार्थ रूप से नहीं जानते वे ही कुविचारी (महा अज्ञानी) लोग समझते तथा कहते हैं कि ब्रह्म को माया आच्छादित कर लिये हैं। और जिन बद्ध जीवों का धर्मभूत ज्ञान कुछ विकासित है, तथा भगवत्कृपा से शास्त्रों का रहस्य भी कुछ न कुछ जिनकी समझ में आ जाता हैं वे भगवत्कृपा पात्र सुविचारी (ज्ञानी) पुरुष समझते तथा कहते हैं कि इस समय हमारे अनंत अपराधों के कारण हमें भगवत्प्रेरित माया ने आच्छादन कर लिया है इसीसे हम ब्रह्म सुख से वंचित होकर भव प्रवाह में पड़े पीड़ित हो रहे हैं। परम कृपालु भगवान जिस तरह—

कबहुँक करि करुना नर देही ।
देत ईस विनु हेतु, सनेही ॥

उसी तरह यदि कभी—

'सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।'

इस अपनी प्रतिज्ञानुसार अपने अनुग्रह रूप पवन से माया रूपी घनावरण को हमसे दूर कर दें तो पुनः हमें सूर्यवत भगवत्साक्षात्कार हो जाय, फिर तो हम कृतार्थ ही हैं।

मूल—

'चितव जो लोचन अंगुलि लाये।
प्रगट युगल ससि तेहि के भाये॥'

व्याख्या—चन्द्रमा को देखते समय एक नेत्र में अंगुलि लगाकर दोनों पुतलियों की सीध को ऊपर नीचे कर देने से दो चन्द्रमा की प्रतीत होती है। उस अवस्था में चन्द्रमा को सचमुच दो मान लेना निःसन्देह रूप से अज्ञान नहीं है, लेकिन दो चन्द्रमा की प्रतीति होना अज्ञान ही है क्योंकि दर्शन सामग्री एवं देश भेद से चंद्रद्वय का होना सत्य है। इसका तात्पर्य यह है कि अंगुली लगा देने से दोनों चक्षुगोलकों की नेत्रेन्द्रियों के एक सीध से हट कर ऊपर और नीचे हो जाने से दर्शन सामग्री दो हो जाती हैं जिससे कि चन्द्रद्वय की प्रतीति होती है। जैसे एक वस्तु को दो व्यक्ति एक साथ ही देखते हों, वैसे अंगुली लगाने पर नेत्रेन्द्रियाँ दो जगह होकर एक साथ ही चन्द्रमा को देखती हैं, दो व्यक्तियों के देखने पर अनुग्राहक दोनों शरीरों का जीवात्मा भिन्न-भिन्न होता है इसी लिये उस पदार्थ का दो रूप से भासित होना नहीं माना जा सकता है। परन्तु नेत्र में अंगुली लगाने पर दर्शन सामग्री चक्षुरेंद्रिय (देखने की शक्ति) दो भागों में बँट जाती है परन्तु उसका अनुग्राहक प्रत्यगात्मा शरीर में एक ही होने के कारण उसे दो चन्द्रमा की प्रतीति अनिवार्य है और वह प्रतीति होना—

'सर्व एव हि विज्ञान याथार्थमिति वेद विदां मतम् ।'

इस शास्त्र सिद्धान्त के अनुसार सत्य है। नेत्र में अँगुली लगाने के कारण जिसको दो चन्द्रमा की प्रतीति होती है वह प्रतीति यथार्थ होने से ही श्री शङ्कर जी ने उसे कोई दोष नहीं दिया जैसे कि औरों का अज्ञानी, कुविचारी, मोहित एवं भ्रमित आदि कहा है।

शंका हो सकती है कि जब उसे कुछ अच्छा या बुरा कहना ही नहीं है तब भला—

'चितव जो लोचन अँगुली लाये।'

इस चौपाई के कहने का प्रयोजन ही क्या था ? इसका समाधान बहुत ही सरल एवं स्पष्ट है कि देखने की सामग्री के दो भागो में बंट कर स्थानान्तरित हो जाने से तो चन्द्रद्वय का प्रतीत होना उचित ही है, केवल चन्द्रमा को दो मान लेना अनुचित एवं अज्ञान है। परन्तु ब्रह्म को अवध नृपति सुत से भिन्न किसी अन्य को अगुण अज आदि विशेषणयुक्त देखना अथवा सगुण ब्रह्म और निगुण ब्रह्म को दो मान लेना अथवा ब्रह्म में कारण कार्य किंवा शुद्धाशुद्ध भेद की कल्पना करना सत्य नहीं किन्तु अज्ञान है। क्योंकि ब्रह्म के जानने का साधन ज्ञान (औपनिषदिक ज्ञान) तो दो भागों में विभक्त होता ही नहीं किन्तु धर्मभूत ज्ञान के साथ तिरोहित हो जाता है और उस जगह अज्ञान एवं तज्जन्य महामोह और भ्रमादि आसन जमा लेते हैं इसी से श्री शङ्कर जी को यहाँ पर—

'चितव जो लोचन अंगुलि लाये।'

आदि कहना पड़ा।

इस तरह अवतार सम्बन्धी हो सकने वाले सब संदेहों को निवृत्त करके कहा कि—

'उमा रामविषयिक असमोहा।
नभ तमधूम धूरि जिमि सोहा॥

'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधे द्विजाः।'
भाग० १।३।२६॥

के अनुसार भगवदवतारों के अनंत-अनंत होने पर भी काम चलाने या स्थूल बुद्धि से समझने के लिये दो भेद मान कर पर और अपर नाम से शास्त्रकारों ने समझाया है। पर अवतार उसे कहते हैं जिसमें भगवान का यह संकल्प होता है कि—

'अनेन रूपेण सर्वाणि कार्याणि करिष्यामि।'

अर्थात् इस रूप से मैं सब काम करूँगा। जैसे दाशरथी राम। और अपर उसे कहते हैं जिसमें भगवान का यह संकल्प होता है कि—

'अनेन रूपेण एतान्येव कार्याणि करिष्यामि।'

अर्थात् इस रूप से अमुक अमुक कार्य ही करूँगा, जैसे मत्स्य, कूर्म वाराहादि। वैसे जो परमात्मा अपने प्रत्येक रूप में अपने अनन्तानन्त दिव्यगुणों से पूर्ण रहता ही है और वेद भी यही कहता है कि—

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदुच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥'

इसीलिये किसी भी भगवदवतार को स्वरूपतः न्यून कहना भगवदपराध है, परन्तु लीलार्थ गृहीत रूपों में भेद होना भी भगवान् की एक लीला ही है।

जैसे एक दीप से अनेकों दीप प्रज्वलित किये जाते हैं अथवा एक प्रधान केन्द्र से अनेकों विद्युत मालायें एक साथ

ही प्रकाशित करदी जाती हैं वैसे ही एक पर स्वरूप द्विभुज रामजी से एक साथ ही अनेकों व्यूह विभव आदिक हुआ करते हैं। श्रीमद्भागवत में यही बात अगाध सरोवर के छोटे-छोटे सोतों का दृष्टान्त देकर सूतजी ने ऋषियों को समझाया है। यथा—

'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः।
यथा विदासिनः कुल्याः सरसः युः सहस्रशः॥'

भाग० १। ३। २६॥

उन पर अपर रूपों में अनन्त होते हुये भी दो भेद कहे जाते हैं। एक मुख्य, दूसरा गौण यथा--

'विभवोऽपि तथानन्तो द्विधैव परिकीर्त्यते।
गौण मुख्य विभागेन शास्त्रेषु च हरेर्मुने।'
'प्रादुर्भावो द्विधा प्रोक्तः गौणमुख्य विभेदतः।'

(तत्वत्रयभाष्य)॥

जो किसी जीवादिकों में आवेशित न होकर उसी चिन्मय विग्रह से अवतीर्ण होते हैं उन्हें मुख्य कहते हैं। मुख्य में तीन भेद हैं, मुख्य १ मुख्यतर २ और मुख्यतम ३। मुख्यतम विभव उन्हें कहते हैं जो परात्पर त्रिपाद्विभूति से ही अवतीर्ण होते हैं जैसे भगवान श्री रामजी आदि। और मुख्यतर तथा मुख्य विभव उन अवतारों को कहते हैं जो कि एकपाद्विभूति के ही वैकुंठों (जैसे क्षीराब्धि रमा वैकुंठ आदि) से अवतीर्ण होते हैं, जैसे भगवान् श्री कृष्ण आदि, उनमें मुख्यतर विभव वे अवतार कहे जाते हैं जो कि अल्पकाल में ही अपने ऐश्वर्य एवं माधुर्यादि दिव्य गुणों को प्रकट करदेते हैं जैसे भगवान् श्री नरसिंह जी। और मुख्य विभव वे अवतार कहे जाते हैं जो कि शनैः शनैः अपने ऐश्वर्यमाधुर्यादि दिव्य गुणों को प्रकट

करते हैं, जैसे भगवान श्री बामन जी, भगवान श्री रामानन्दादि आदि आदि।

जब कि भगवान् किसी कार्य बिशेषवश किसी जीव विशेष में प्रविष्ट होकर कुछ काल तक लीला करते हैं तब उन्हें गौण विभव कहते हैं। भगवान् के आवेशित होने से ही गौण विभव को आवेशावतार या विभूति अवतार भी कहते हैं। वह आवेशावतार दो प्रकार का होता है, शुद्धावेश और अशुद्धावेश। जिन गौण अवतारों से सात्विक कार्यों का संपादन करते हैं वे शुद्धावेश कहे जाते हैं जैसे व्यास, पृथु, धन्वान्तरि गौरांग महाप्रभु आदि। और जिन गौण अवतारों से राजसी एवं तामसी कार्यों का संपादन करते हैं उन्हें अशुद्धावेश कहा जाता है जैसे ब्रह्मा, शिव, दुर्गा, अग्नि, परशुराम, कपिल, बुद्ध आदि। यहाँ इतना और स्मरण रखना चाहिये कि जो आवेशावतारों को गौण कहा जाता है इसमें शास्त्रों का यह मंतव्य कदापि नहीं कि वे स्वरूपतः गौण हैं परन्तु भगवान की इच्छा से ही वे गौण हैं यथा—

'सेनापते ममेच्छातो गौणत्वं न च कर्मणा।'

विश्वासेन संहिता॥

भगवान के अनन्त अवतारों में से 'मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलभद्र, श्री कृष्ण और कल्कि' ये दश विशेष विख्यात हैं। शास्त्रों का शासन है कि अहङ्कार युक्त जीवों के अधिष्ठाता होने से, ब्रह्मा, शिव, अग्नि, व्यास, परशुराम, सहस्रबाहु अर्जुन, कुबेर, बुद्ध, कपिल आदि अवतारों की उपासना मुमुक्षुओं को नहीं करनी चाहिये। यथा—

'जीवात्मानः सर्व एते नोपस्या वैष्णवैः सदा ।
आविष्टमात्रास्ते सर्वे कार्यार्थममित द्युते ॥
अनर्च्याः सर्व एवैते बिरुद्धत्वान्महामते ।
अहंकारंव युताश्चेमे जीवमिश्रा ह्यधिष्ठिताः ॥
ब्रह्म रुद्राजुर्नव्यासहस्रकर भार्गवाः ।
ककुत्स्थात्रेय कपिल बुद्धाद्या ये सहस्रशः ॥
शक्त्यावेशावतारास्तु विष्णोस्तत्काल विग्रहाः ।
अनुपास्या मुमुक्षूणां यथेन्द्राग्न्यादि देवताः ॥

तत्वत्रयभाष्यम् ॥

आजकल कुछ ऐसे भी बुद्धि के शत्रु लोग हैं जो कि अपने को कट्टर उपासक कहलाने के लिये श्रीरामजी को विभव सुनते ही आगभभूका हो जाते हैं, यहाँ तक कि जिस पुस्तक में राम-कृष्णादि को विभव लिखा देखते हैं उसे सत्यार्थ प्रकाश के समान गर्हित समझने लगते हैं। यदि उनका कुछ भी बल चले तो ऐसी ऐसी अर्थात् रामकृष्णादि को वि व बतलाने वाली पुस्तकों को जप्त करवादें, संसार में ऐसी ऐसी पुस्तकें रहने ही न पायें। वास्तव में वे भोले लोग दयनीय हैं, भगवान श्री रामजी उन्हें सुबुद्धि दें। क्योंकि श्रीरामजी यद्यपि पर हैं, अवतारी हैं तथापि जब—

'अवतरेउ अपने भक्तहित निज तन्त्रनित रघुकुलमनी।'

'सो अवतार सुना जगमाही।'
'प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा।'
'तिन के गृह अवतरिहौं जाई।'

इत्यादि मानस ही के प्रमाण से जब श्रीरामजी अवतार स्वीकार कर लिये हैं तब उन्हें विभव कहने में कोई आपत्ति नहीं। परधाम में श्री सीताजी सहित नित्य विराजमान प्रभु श्रीरामजी को पर कहा जाता है और जब वे ही प्रभु अपनी अपरिमेय दयावश अवतार रूप में पृथ्वी पर पधारते है तो विभव कहे जाते हैं। एक श्री रामजी ही पर अवतारी हैं और अन्य जितने भगवत्स्वरूप हैं सब उनके कलाअंश हैं।

अंश और कला के विषय में, एकबार एक सज्जन ने वेद-भाष्यकार ब्रह्मनिष्ठ पूज्यपाद स्वामी श्री भगवदाचार्य जी महाराज से पूछा, श्री स्वामी जी ने जो उत्तर दिये थे अत्यन्त उपादेय होने से यहाँ दे दिये जाते हैं।

५ प्रश्न

एक भाई पूछते हैं कि—

(क) अंश क्या वस्तु है?

(ख) कला क्या वस्तु है?

(ग) कोई अवतार चार कला के थे, उनमें १२ कौन सी कलायें नहीं थीं?

(घ) कोई अवतार १२ कला के थे, उनमें ४ कौनसी कलायें नहीं थीं?

(ङ) कोई अवतार १६ कला के थे, उनमें ४ कौनसी कलायें अधिक थीं?

उत्तर

वस्तुतः यह प्रश्न श्रीमान् पं० श्रीरामवल्लभा शरणजी महाराज से पूछना चाहता था। मेरे लिये यह बहुत अटपटा प्रश्न है। चौथे और पाँचवें प्रश्न में विवाद को भी अवसर है। तथापि—

'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'

इस लोकोक्ति के अनुसार यथामति मैं उत्तर देता हूँ। परन्तु इस उत्तर के लिये मैं बलपूर्वक नहीं कह सकता हूँ कि यही सत्य है। अस्तु--

मेरे विचार में अंश और कला समानार्थक हैं। पहिले मैं १६ कलाओं के नाम गिना देता हूँ। १—*ऐश्वर्य। २—धर्म। ३—यश। ४—श्री। ५—मोक्ष। ६—भरण। ७—पोषण ८ आधार। ९—उत्पत्ति। १०—पालन। ११—सहार। १२—शत्रु नाशन। १३—रक्षण। १४—शरण। १५—लालन। १६—सामर्थ्य। इनका अर्थ निम्नलिखित है।

१—ऐश्वर्य=ईश्वरता स्वतन्त्रता। २—धर्म=ज्ञान स्वरूपता। ३—यश=यश का कारण भूत तेज। ४-श्री=शक्ति। ५-मोक्ष=निर्बन्धता। ६—भरण=धारण शक्ति। ७-पोषण=कल्याणप्रद शक्ति। ८—आधार=सर्व व्यापकता, सर्व शरीरिता। ९—उत्पत्ति=सर्जन शक्ति। १०—पालन=रक्षण-शक्ति। ११—संहार=प्रलयन शक्ति। १२—शत्रुनाशन=शत्रु नाश पुरस्सर स्वजनोद्धारण शक्ति। १३—रक्षण=भगवद्वि-

---

*१ ईश्वरता, स्वतंत्रता। २ ज्ञान स्वरूपता। ३ यश का कारण भूत तेज। ४ शक्ति। ५ निर्बन्धता। ६ धारण शक्ति। ७ कल्याणप्रद शक्ति। ८ सर्व व्यापकता, सर्व शरीरिता। ९ सर्जनशक्ति। १० रक्षण-शक्ति। ११ प्रलयन शक्ति। १२ भक्त शत्रु नाश पुरस्सर स्वजनोंद्धरण शक्ति। १३ स्वविमुख-सात्विक जनों को स्वसंमुखी करण शक्ति (अति हरि कृपा जाहि पर होई। पांव देइ यहि मारग सोई।) १४ सांसारिक त्रिविधताप तपित-पीड़ित एवं भीत-जनाश्वासनप्रद शक्ति। १५ आलिंगन पूर्वक प्रेम प्रदर्शन। १६ सृष्टि स्थिति लयकारित्व।

मुख जीवों को भगवत्स मुख करने की शक्ति। १४—शरण= संसार के त्रिविधितापों से भीतजनों को आश्वासन देने वाली शक्ति। १५ लालन=आलिंगन पूर्वक प्रेम प्रदर्शन शक्ति। १६—सामर्थ्य=सृष्टि स्थितिलय कारित्व॥

अद्वैतवाद की दृष्टि और मर्यादा से यह कलायें ईश्वर की हैं, परब्रह्म की नहीं। विशिष्टाद्वैतवाद की दृष्टि से भी यह कलायें ईश्वर ही की हैं परन्तु ईश्वर ही परब्रह्म हैं। किस अवतार में कितनी और कौन कलायें प्रकट थीं इसका विवरण मुझे तो निरर्थक और दुर्घट जैसा प्रतीत होता है। श्री रामोपासकों की दृष्टि से यह सब कलायें श्रीराम में ही प्रकट हुई थीं और होती हैं, अन्य अवतारों में नहीं। श्रीकृष्णोपासकों की दृष्टि से यह सब कलायें श्रीकृष्ण में ही प्रकट हुई थीं और प्रकट होती हैं अन्य अवतारों में नहीं। मैं समझता हूँ इस कलह प्रद विचार से पृथक रहना ही अच्छा है।

शायद वैज्ञानिक रीति से यह कहा जा सकता है कि समस्त योनियों में क्रमिक और नियमित विकास होता। उद्भिज योनि में जीव का विकास अमुक श्रेणी तक ही होता है। अतः उद्भिज योनि में भगवान की एक कला का प्रकाश माना गया है। स्वेदज में उद्भिज की अपेक्षा द्विगुण-दुना विकास होता है अतः उसमें भगवान् की दो कलाओं का प्रकाश माना गया है। अंडजों में त्रिगुण विकास होता है अतः उसमें भगवान् की तीन कलाओं का प्रकाश माना गया है। इसी तरह जीवों की शक्ति के विकासक्रम से पशुओं में भगवान् की चार कलाओं का विकास माना गया है मनुष्यों में जो विकास होता है उसका विकास आरम्भ पाँच कलाओं से होता है और आठ कला तक होता है। अतः मनुष्य योनि में भगवान् की पाँच से आठ कलाओं का प्रकाश माना गया है। नौ से सोलह कलातक

जब विकास होता है तब वह जीव अवतार कोटि में माना जाता है। जहाँ पर ६ से १५ कलाओं तक का प्रकाश होता है वह अपूर्ण अवतार माना जाता है, ऐसे ही अवतारों को अंशावतार या आवेशावतार कहा करते हैं। जिस अवतार में १६ कलाओं का पूर्णतया विकास होता है वह अवतार पूर्णावतार माना जाता है। इस वैज्ञानिक पक्ष में जीव ही विकास क्रम से अवतार हो जाता है जो ईश्वरीय स्वरूप है।

मेरे मत से सर्व साधारण के लिये सबसे अच्छा उत्तर यह है कि भगवान कृष्ण का अवतार चन्द्र वंश में हुआ था! चन्द्रमा की १६ कलायें मानी जाती हैं। अतः कृष्ण को १६ कलावतार या पूर्णावतार कहा जाता है। भगवान राम का अवतार सूर्यवंश में हुआ था। सूर्य १२ कला माने जाते हैं अतः राम को द्वादश कलावतार कह दिया गया है। इस रीति से पूर्णापूर्ण का कुछ विचार करना ही व्यर्थ है। या किसमें कितनी और कौन सी कला नहीं है यह विचार भी काकदन्त परीक्षा समान ही है।❀

❀ कुछ लोग जो शास्त्रों से जान पहिचान रखते ही नहीं परन्तु श्री रामोपासकों को चिढ़ाने के लिये दुराग्रह पूर्वक कह दिया करते हैं कि हमारे श्री कृष्ण में तो १६ कलायें हैं तुम्हारे राम में तो १२ ही। कुछ लोग तो हठ करने लगते हैं कि वे ४ कलायें कौन हैं जो कि हमारे श्री कृष्ण में हैं तुम्हारे राम में नही हैं। ऐसे सज्जनों से जब मुझसे बातचीत होने लगती है तो मैं भी मनोरंजन के लिये यही कहा करता हूँ कि आपके श्री कृष्ण में जो चार कलायें अधिक हैं उनके नाम ये हैं १-चोरी करना २-जारी परस्त्री गमन करना (चोर जार शिखामणिः गोपाल सहस्रनाम) ३-समर विमुखता। युद्ध में शत्रु को पीठ दिखाकर भागजाना ४-मिथ्या भाषण करना। बस यही चार कलायें हमारे श्री रामभद्रजू में नही हैं क्योंकि वे तो--

यदि कोई साम्प्रदायिक आग्रह से या साम्प्रदायिक द्वेष से यह कहे कि चन्द्रवंश में जन्म लेने से भगवान् कृष्ण का अवतार ही १६ कलावान होने से पूर्ण है तो कोई साम्प्रदायिक आग्रह और साम्प्रदायिक द्वेष से ही यह भी कह सकता है कि भगवान कृष्ण का अवतार सर्वथा परतंत्रावतार है क्यों कि चन्द्रवंश का आदि जनक चन्द्र सूर्य का सर्वथा परतन्त्र है। चन्द्र में अपना कोई प्रकाश है ही नहीं। उसे तो सूर्य से ही प्रकाश प्राप्त होता है। सूर्यवंश भगवान राम का है। अतः चन्द्र सूर्य का परतन्त्र है और इसीलिये चन्द्र के परतन्त्र होने से ही कृष्ण भी सर्वथा परतन्त्र हैं।

तत्वदर्शी वर्ष ६ अंक १ ॥

स्वामी जी ने अपने उपरोक्त लेख में अंश और कला को एक मान कर ईश्वर की अनन्त कलाओं में से १६ कलाओं का उल्लेख किया है। श्रीमद्भागवत के अद्वैत टीकाकारों ने—

'संभूत षोड़श कलमादौ लोक सिसृक्षया'

भाग० १।३।१॥

'जननी सम जानहिं पर नारी। धन पराय विषते विषभारी।'

उन्होंने स्वयं ही कहा है कि

'रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पगु परै न काऊ।'

'मोहि अतिशय प्रतीति मनकेरी। जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी'

'जिन्हकै लहहि न रिपु रण पीठी। नहिं पावहिं परतिय मन दीठी।'

इत्यादि और मिथ्या तो उनकी छट्ठी में ही नहीं पड़ा था, महर्षि जी तो डंका पीटकर शपथ पूर्वक कहते हैं कि--

'रामो द्विर्नाभिभाषते'।

स्वयं हमारे श्री राम भद्रजू ने स्वयं ही कहा है कि

'मृषा न कहौं मोरि यह बाना।'

—मानस सिद्धान्त लेखक

की टीका में महत्तत्व के कार्यभूत पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय मन और पंच महाभूत इन्हीं १६ को १६ कला लिखा है। परन्तु यह प्रकृति की कलायें हैं, ईश्वर की नहीं। वशिष्ठ संहिता में 'अमता' मानदा आदिक चन्द्रमा की भिन्न भिन्न १६ कलाओं का वर्णन है। श्री रामार्चन चन्द्रिका में नीला, रक्ता आदि छब्बीस अन्य अन्य कलाओं का उल्लेख है और नारद पाँचरात्र के—

'अवतारा बहवः सन्ति कला चांश विभूतयः
रामएव परंब्रह्म सच्चिदानन्दमव्ययम्' ॥

इस वर्णन से पाया जाता है कि कला दूसरी वस्तु है, अंश दूसरी वस्तु है और विभूति दूसरी वस्तु है। सारांश यह कि ब्रह्म की कलायें अनन्त हैं, अंश अनन्त हैं, और विभूति अनन्त हैं। पर ब्रह्म राम जी एक मात्र दाशरथी राम के रूप में जब आते हैं, स्वयं अवतीर्ण होते हैं, किसी कला अंश आदि से नहीं प्रत्युत अपने सम्पूर्ण अंश और कला से अवतरित हैं इसी से श्री व्यास जी ने उन्हें—

'कलया कलेशः।'

भगा० २।८।३१

कहा है। कलांशावतारों से पूर्णावतारों में कुछ विशेषतायें रहती ही हैं। पर अवतार में जो विशेषतायें प्रत्यक्ष देखी जाती हैं वह कलांशावतारों में नहीं देखी जातीं, जैसे श्री दाशरथी राम जी में जो निम्न विशेषतायें पाई जाती हैं वे अन्य किसी भी अवतार में नहीं पाई जातीं। वे विशेषतायें ये हैं।—

(१) अन्य अवतार को पराजित करना। (भार्गव परशुराम का दाशरथी राम से पराजित होना सर्वत्र प्रसिद्ध ही है।

(२) पुरुष को देखकर पुरुष का मोहित होकर अपने में स्त्री भाव की चाहना करना। यथा—

'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्य वासिनः।
दृष्ट्वा राम हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्सुविग्रहम्।'

प० पु०।

(३) अपने उसी रूप से (जिस रूप में अवतरित हों) बहुत कालतक पृथ्वी पर रहना।*

(४) सशरीर और सपरिजन पुरजन परधाम प्रयाण करना। इत्यादि—

पर रामजी हैं, अन्य विभव उनके अंश हैं। उन अंशों में प्रयोजन मात्र कलाओं का प्रकाश होता है। जिनमें अधिक कलाओं का प्रकाश होता है वे ही प्रधान कलांश कहे जाते हैं। श्री गोस्वामी जी ने श्रीरामचरितमानस में प्रत्येक तरह के अवतारों की थोड़ी बहुत चर्चा कर दिया है। जैसे गौण शक्त्यावेश कपिल—

'आदि वेद प्रभु दीन दयाला।
जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला॥'

स्वल्पावेश परशुराम तो विख्यात ही हैं।

---

*व्यास, परशुराम, दत्तात्रेय, मुचुकुन्द आदि आवेशावतार जो चिरंजीवी रूप से पृथ्वी पर हैं वे इस नियम के प्रतिवाद नहीं हो सकते क्योंकि उन लोगों में कार्य होने के समय तक ही भगवदंश रहा, आगे नहीं। यदि सब दिन रहे तो वे आवेश कैसे?

'मीन कमठ सूकर नरहरी।
वामन परसुराम वपुधारी॥
'जब यदुवंश कृष्न अवतारा।'

इत्यादि स्थलों पर मुख्य, मुख्यतर आदि का संकेत किया है। मुख्यतम विभव श्री रामजी तो इस महाकाव्य के प्रधान नायक ही हैं। और कुछ प्रधान कला अंशों का अवतार तो बड़े स्पष्ट रूप से वर्णित किया है। वह इस तरह कि कभी-कभी कितने अवतार ब्रह्म के दिव्यगुण, ऐश्वर्य, तेज और शक्ति आदि से और कितने ब्रह्म के चिन्मयानन्द शरीर के अवयवों से प्रकट होते हैं। जैसा कि भिन्न भिन्न ग्रन्थों में उल्लेख पाया जाता है। यथा—

'राघवस्य गुणोदिव्यो महाविष्णुः स्वरूपवान
वासुदेवोघनीभूतस्तनुतेजो महाशिवः॥
मत्स्यश्च रामहृदयं योगरूपी जनार्दनः।
कूर्मश्चाधार शक्तिश्च वाराहो भुजयोर्बलम्॥
नारसिंहो महाकोपो वामनः कटि मेखला।
भार्गवो जंघयोर्जातो बलरामश्च पृष्ठतः॥
बौद्धश्च करुणा साक्षात्कल्किश्चित्तस्य हर्षतः।
कृष्णः शृंगार रूपश्च बृन्दावन विभूषणः॥
ऐते चांशकलाः सर्वे रामो ब्रह्म सनातनः।
सुदर्शन संहिता॥

महारामायण के ४८ वें सर्ग में तो श्री राम जी के चरण-चिन्हों से अवतारों का होना कहा है। यथा—

'अवतारा विभोर्मुग्धे जायन्ते विश्व हेतवे।
तेऽपि रामांघ्रि विह्वेभ्यः संभवन्ति पुनः पुनः ॥'

दूसरे ग्रन्थों में भी यही पाया जाता है कि—

'अनन्त ब्रह्मा शतकोटि शम्भुः नवकोटि दुर्गा पद्मं गणेशः।
श्रीरामचन्द्रस्य ह्यनादि पुन्सः भवन्तिसर्वे चरणारविन्दे ॥'

केवल रामजी के ही लिये नहीं किन्तु भगवान् के अन्य विग्रहों के अंगावयवों से अवतार होना पाया जाता है, जैसा कि भगवान् श्री कृष्ण और बलराम जी के अवतार के लिये विष्णुपुराण में कहा गया है कि--

'उज्जहारात्मनः केशौ महामुने।'

यही बात श्री मद्भागवत और महाभारत में स्पष्ट रूप से कही गयी है यथा—

'भूमेः सुरेतरवरूथ विमर्दितायाः,
क्लेश व्यवाय कलयासित कृष्ण केशः।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्य मार्ग,
कर्माणि चात्म महिमायनिबन्धनानि॥'

भाग० २। ७। २६॥

सचापिकेशौ हरिरुद्ववर्ह शुक्लमेमपरं चापिकृष्णम्।
'तौचापि केशौ निर्वेशितां यदूना
कुल स्त्रियौ देवकी रोहिणीच।
तयोरेको बलदेवो वभूव योऽसौ
श्वेतस्तस्य देवस्य केशः॥

कृष्णो द्वितीयः केशवः संबभूव
योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः ॥'

महा० आदि० १६६ । ३४ ॥

इन उपरोक्त श्लोकों में साफ साफ कहा है कि श्री मन्नारायण ने अपना श्वेत और श्याम दो केश उखाड़ कर दिये जिससे कि यदुवंश में श्वेत केश से बलराम रोहिणी के गर्भ से और श्याम केश से श्री कृष्ण देवकी के गर्भ से अवतरित हुये ।

कुछ महानुभाव पक्षपात के कारण उपरोक्त भागवतादि के श्लोक को इसलिये क्षेपक मानते हैं कि भगवान् के दिव्य शरीर में श्वेत केश कहाँ से आगये । क्या भगवान् बुड्ढे होगये ?

परन्तु यह नहीं सोचते कि अघटित घटना पटीयसी सर्वशक्तिमान भगवान के शरीर में जब अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड स्थित हैं तो श्वेत केश का होना कौन आश्चर्य की बात है, अस्तु ।

कलांशावतारों के अनेकों भेदोपभेद हैं जैसे कलांशावतारों में भी आवेश प्रवेश और स्फूर्ति रूप से मुख्य तीन भेद हैं—

(क) आवेशावतार—गर्म जल किसी के शरीर पर छोड़ दें तो अवश्य ही जल जायगा, परन्तु यदि वही जल अग्नि में छोड़ा जाय तो वह अग्नि को बुझाकर स्वयं भी जल जायेगा । इसे ऐसा समझना चाहिये कि जितनी अग्नि से जितना जल गर्म हो सकता है वह जल उतने अग्नि को बुझा भी सकता है और स्वयं भी पात्रानावृत होने से जल जाता है । अग्नि का आवेश उस जल में हुआ था । आवेश बीत जाने पर जल

भी ठन्ढा हो जायेगा। इसी प्रकार प्रभु का अवतार है। श्री परशुराम को स्वरूपावेशावतार माना जाता है। क्योंकि प्रथम तेज प्राप्ति के पश्चात उन्होंने अपनी शक्तिको विश्व में फैलाया। परन्तु मिथिला में श्रीराम से मिलने पर शक्ति अपने स्थान पर चली गई। तब—

'कहि जय जय जय रघुकुल केतू।
भृगुपति गये बनहिं तप हेतू॥'

यही भगवान का आवेशावतार है।

(ख) प्रवेशः—तप्तलोह अग्नितुल्य होजाता है। उसका स्पर्श जलाने का काम करता है क्योंकि उसमें अग्नि का प्रवेश हुआ है। मानों उस लोहे में अग्नि व्यापक है। इसी प्रकार से द्रौपदी के वस्त्र में भगवान का प्रवेश हुआ। वस्त्र का बढ़ना भी अवतार है। यथा—

'सभा सभासद निरखि पट-पकरि उठायो हाथ।
तुलसी कियो इगारहौं, बसन बेस यदुनाथ॥'

यह भगवान का प्रवेशावतार है।

(ग) स्फूर्ति—पत्थर पर पत्थर मारने से अग्नि की चिनगारी उत्पन्न होती है। ऐसा ही अवतार भक्त शिरोमणि श्री प्रह्लाद के लिये श्री नृसिंह भगवान का हुआ।

काढ़ि, कृपाण कृपा न कहूँ पितु काल कराल विलोकि न भागे।
"राम कहाँ' 'सब ठाऊ हैं''खम्भ में''हाँ'सुनि हाँक नृकेहरि जागे॥
बैरि विदारि भये विकराल कहे प्रहलादहि के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तब ते सब पाहन पूजन लागे॥
(कवितावलि रामायण)

यहाँ किसी को आक्षेप न करना चाहिये कि नृसिंहावतार के पूर्व प्रतिमा पूजन था ही नहीं। श्री गोस्वामी जी के कहने

का तात्पर्य है पहिले सभी वर्णाश्रम वाले स्त्री पुरुष बालवृद्ध सभी प्रतिमा पूजन नहीं करते थे। तब प्रतिमार्चन नियताधिकृत था, परन्तु नृसिंहावतार के बाद वह प्रतिमार्चन सर्वाधिकृत होजाने एवं प्रतीताधिक्य के कारण—

'सब पूजन लागे।'

मतान्तर से आविर्भाव—जैसे चकमक पत्थर लोहे तथा रूई के योग से अथवा लकड़ी से लकड़ी घिसकर अग्नि प्रगट करते हैं और वह स्थाई रूप होकर समग्र कार्य करने में समर्थ होता है। इसी प्रकार जब कोई भारी कार्य होता है (जैसे रावण और कंसादि का नाश होनाथा) तब देवता, मनुष्य ऋषि सभी एकत्र होकर प्रभु की स्तुति करते हैं तब साक्षात प्रभु श्रीरामजी का अवतार होता है, इसी को आविर्भाव कहते हैं। इन्हीं अवतारों के चरित्रगान करने से—

सोई जस गाय भगत भवतरहीं।

संसार समुद्र का पार मिलता है। ऐसे ऐसे बहुत भेद हैं उनमें केवल कुछ उन्हीं प्रधान अंशावतारों के ही विषय में गोस्वामीजी ने बड़े विस्तार के साथ लिखा है जिनका कि रामचरित्र से घनिष्टतम सम्बन्ध है। वह इस तरह लिखा है कि जब राक्षसाधिपति रावण का अत्याचार पराकाष्ठा की सीमा को भी उल्लंघन करनेलगा, उस समय पृथ्वी और देवताओंतथा ऋषियों के घोर दुःख को देखकर ब्रह्माने जब अत्यन्तआर्तनाद से स्तवन करके पर ब्रह्म को पुकारा तब परब्रह्म श्रीरामजी ने आकाशवाणीद्वारा आश्वासनपूर्वक अंशोंयुक्त—अवतार लेने को कहा कि—

'अंशन सहित मनुज अवतारा।
लै हों दिनकर वंश उदारा।'

और कितने रूपों से अवतार लेंगे इसे भी स्वयं ही स्पष्ट रूप से बतला दिया कि—

'रघुकुल तिलक सु चारिउ भाई।'

अर्थात चार रूप से मनुज अवतार लेंगे। उन चारों में से एक तो परब्रह्म श्रीरामजी ही हैं। यथा—

'तथा रामस्य रामाख्या भुविस्यादथ तत्वतः ॥'

रामतापिन्युपनिषत ॥ १। ५ ॥

अब केवल तीन पर ही विचार करना है कि वे तीन कौन हैं, कैसे हैं जो श्री भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नरूप से अवतीर्ण हुये? कुछ लोग तो

'उपजहिं जासु अंस ते नाना।
संभु बिरंचि विष्नु भगवाना ॥'

इस अर्द्धाली को लेकर कहते हैं कि त्रिदेव ही भरतादिक तीनों भाई हैं। किन्तु इसे मानने में एक आपत्ति यह है कि उपरोक्त अर्द्धाली में यह नहीं कहागया है कि त्रिदेव ही जिनके अंश हैं। प्रत्युत वहाँ तो यह कहागया है कि जिनके अंश से नाना त्रिदेव उत्पन्न हुआ करते हैं। तथा कुछ लोग तो शंख, चक्र और फणीश शेष का भरतादि रूप में प्रकट होना कहते हैं, परन्तु श्रीरामचरित्रमानस में शंखादि के अवतीर्ण होने की सांकेतिक चर्चा भी नहीं है। इसलिये इस विषय में विचार विमर्श की चर्चा उठाना ही व्यर्थ है। अतः सच्छास्त्रों द्वारा ※ यह निर्णय करना चाहिये कि वे अंश

※ऋग्यजुस्साम, अथर्वा च भारतं पाँचरात्रकम्!
रामायणमादिकाव्यं शास्त्रमित्यभिधीयते ॥
यच्चैतदनुकूलस्तु सोऽपि शास्त्रः निगद्यते।'

कौन हैं जिनसे नाना त्रै देवादि उत्पन्न होते रहते हैं ?

यद्यपि परापरतर ब्रह्म के संपूर्ण अंशों को कोई कभी भी नहीं जान सकता तो भी उन तीन का तो अन्वेषण अवश्य करना ही होगा कि शास्त्रों में किस नाम से उनका वर्णन है जो कि भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न रूप से अवतीर्ण होते हैं। रहस्यग्रन्थों ❀ में यह पायाजाता है कि—

'भोगस्थान परायोध्या' ।

अर्थात् त्रिपाद्विभूतिस्थ साकेत में सतत काल श्री रामजी की सेवा में अपने नित्य दिव्य द्विभुज रूप से श्री भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न एवं श्री हनुमानजी विराजमान रहते हैं † § वे ही सृष्टि

❀ रहस्य ग्रन्थ उन्हें कहा जाता है जिनके लिये यह नियम रख दिया गया है कि—

'गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः' ।

हनु० संहिता अ० ६ ॥

'शठाय न प्रदातव्यं न दातव्यमधर्मिणे' ॥

अर्थात्

'यह न कहिय सठहीं हठसीलहिं ।
जो मन लाइ न सुन हरि लीलहिं ॥
कहिय न लोभिहिं क्रोधिहिं कामिहिं ।
द्विज द्रोहिहिं न सुनाइय कबहूँ ।
सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ ॥
जो न भजे सचराचर स्वामिहिं ॥

† § स्मरण रहे कि-भरत लक्ष्मण और शत्रुघ्न के साथ हनुमानजी की गणना करदेने से कोई महाशय यह न समझलें कि भरतादि की तरह हनुमान जी भी भगवद्विग्रह (भगवदंशकला) हैं। या हनुमान जी की तरह भरतादि भी नित्य जीव हैं, क्योंकि श्री हनुमान् जी नित्य जीव

संचालनार्थ श्री रामजी की आज्ञा से एक एक रूप से क्रमशः वैकुण्ठाधीश, शेषशायी, श्वेत द्वीपाधिपति एवं महाशंभु हो कर रहते हैं। जब जब पर साकेत से श्री रामजी एक पाद्विभूतिस्थ लीला अयोध्या में दशरथ कौशल्या से अवतीर्ण होते हैं तब तब वे लोग भी पुनः अपने अपने भरतादि रूप में अवतीर्ण हो जाते हैं। इसीलिये नारद पाँचरात्र में कहा गया है कि—

'वैकुण्ठेशस्तु भरतः क्षीराब्धीशस्तु लक्ष्मणः।
शत्रुघ्नस्तु स्वयंभूमा रामसेवार्थमागताः॥

बृहत्ब्रह्म संहिता।

अर्थात्—वैकुण्ठाधीश चतुर्भुज श्रीमन्नारायण भरतरूप से, क्षीराब्धि निवासी विराट पुरुष श्री मन्नारायण लक्ष्मण रूप से और श्वेत द्वीपाधिपति अष्टभुजी भूमा पुरुष श्रीमन्नारायण शत्रुघ्न रूप से श्री रामजी की सेवा करने के लिये श्री अयोध्या जी में अवतीर्ण हुये।

अब देखना यह है कि उपर्युक्त तीनों परात्पर ब्रह्म के अंश हैं और तीनों ही से नाना त्रैदेव हुआ करते हैं इसमें क्या प्रमाण हैं? नारद पांचरात्र में क्षीराब्धि निवासी शेषशायी नारायण का लक्ष्मण रूप से अवतीर्ण होना कहा है। उन्हीं क्षीर सिन्धुनिवासी नारायण को श्रीमद्भागवत में—

'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
संभूत षोडशं कलमादौ लोक सिसृक्षया॥'

भाग० १।३।१॥

हैं। जिस तरह एक ब्रह्म ही राम रूप तथा सीता रूप (पतिपत्नि रूप) में रहता है उसी तरह वही ब्रह्म भरतादि रूप में भी सेव्य सेवक रूप में रह कर आनन्दोपभोगात्म प्रकार की क्रीड़ा करता है।

इस श्लोक से परात्पर ब्रह्म को षोड़श कलावाला अवतार कहकर—

'पश्यन्त्यदो रूपमदभ्र चक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्धा श्रवणाक्षि नासिकं सहस्रमौल्यंबरकुंडलोल्लसत् ॥'

भाग० १ । ३ । ४ ॥

से उन्हें विराट पुरुष कहकर—

'एतन्नानाऽवताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः ॥'

भाग० १ । ३ । ५ ॥

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में—

'उपजहिं जासु अंस ते नाना ।
संभु विरञ्चि विष्नु भगवाना ॥'

कहकर उत्तरार्ध में कहा गया कि क्षीराब्धि शायी विराट पुरुष के अंश जो त्रिदेवादि हैं उन (त्रैदेवादिकों) से देव तिर्यक् और नरादि की सृष्टि होती है। यद्यपि इस प्रथम स्कन्ध के तीसरे अध्याय में वर्णन किये गये अवतारों को विराट पुरुष श्रीमन्नारायण का अंश कहा गया है और उन्हीं अवतारों में दाशरथी राम की भी गणना है तो भी—

'नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्य चिकीर्षया ।
समुद्र निग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ॥'

भाग० १ । ३ । २२ ॥

इस श्लोक से श्री दाशरथी रामजी को 'अतः परम्' कहकर के भगवान् श्री वेदव्यास जी ने सूचित करा दिया कि 'श्री दाशरथी रामजी क्षीराब्धि निवासी नारायण के अवतार नहीं हैं किन्तु वे तो इन नारायणादि से भी परे हैं, उन्हीं की १६ कला

से नारायण हैं।' (साकेत से उतर कर एक पाद् विभूति में आने से अवतार कहे जाते हैं) इसी तरह—

'एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्।'

भाग० १।३।२८॥

इस श्लोक से कहा गया है कि श्री कृष्णरूप से अवतीर्ण होने वाला दिव्य मंगल विग्रह भी क्षीराब्धिशायी के कला अंशों से नहीं हैं, किन्तु पुरुषावतार से कहे गये भगवान क्षीराब्धिशायी ही स्वयं वासुदेव श्रीकृष्ण रूप से प्रगट हुये थे। श्रुति भी तो यही कहती है कि—

'एष नारायणः साक्षात् क्षीराब्धि निकेतनः।
नाग पर्यंकमुत्सृज्य ह्यागतो मथुरां पुरीम् ॥'

गो० ता० उ०

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'परात्पर ब्रह्म की १६ कला से शेषशायी विराट पुरुष का अवतार होना कहा गया है। परन्तु वहाँ पर यह कहाँ लिखा है कि जिनकी १६ कला से क्षीराब्धिशायी हुये वे दाशरथी राम ही हैं?

इसका उत्तर स्वयं भागवतकार भगवान् व्यास जी ने ही आगे चलकर बहुत सुस्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि—

'अस्मत्प्रसाद सुमुखः कलया कलेशः,
इक्ष्वाकुवंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे।
तिष्ठन वनं सदयितानुज आविवेश,
यस्मिन् विरुद्ध्य दशकंधर आर्तिमार्च्छत्॥

भाग० २।७।२३॥

यहाँ पर 'इक्ष्वाकु वंशावतीर्ण' दाशरथी राम जी के लिए सुस्पष्ट शब्दों में 'कलेशः' अर्थात 'सर्वेषां कलानां ईशः'

सम्पूर्ण कलाओं का ईश कहा गया है। ब्रह्म वैवर्त पुराण के कृष्ण जन्मखड अध्याय ११६ में भी यही कहा गया है कि—

'सर्वे चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् ।
परिपूर्णतमोरामः कौशल्यानन्द वर्धनः ।

महाशिव संहिता में तो और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि—

'परं ब्रह्म परंधाम जगतां कारणं परम् ।
नाग शय्या शयानं च द्विभुजो रघुनन्दनः ॥'

वेद परात्पर ब्रह्म के लिये—

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते ।'

श्वे० ३०॥६॥७॥

'न तस्य प्रतिमा अस्ति ।'

यजु० ॥१२॥२॥

कहता है कि—

'तस्य ब्रह्मणः प्रतिमा प्रतिमानभूतं
किंचित न अस्ति न विद्यते ॥'

परम वेदज्ञ भगवद्वतार श्री व्यासजी का भी यही कहना है कि—

'नेदं यशो रघुपतेः सुर वांचयात्त,
लीलातनोरधिक साम्य विमुक्तधाम्नः ।'

९॥१२॥२०॥

और श्री गोस्वामी जी ने भी यही कहा है कि—

'जाके सम अतिसय नहिं कोई ।'

अतः शास्त्रों का निश्चित सिद्धान्त है कि क्षीराब्धि निवासी श्री मन्नारायण भी परात्पर ब्रह्म श्री दाशरथी रामजी के षोड़श कलात्म एक अंश हैं और वे ही श्री लक्ष्मण रूप से अवतीर्ण हुये। इसीलिये गोस्वामी जी ने राम चरित मानस में जहाँ कहीं लक्ष्मण जी के लिये कुछ लिखा है वहाँ उन्हें नारायण के ही विशेषणों से विशेषित किया है, शेष या शिवादिकों के विशेषणों से नहीं जिसका कुछ दिग्दर्शन यहाँ करा दिया जाता है।--

'बन्दौं लछिमन पद जल जाता।
शीतल सुभग भगत सुख दाता॥
रघुपति कीरति विमल पताका।
दण्ड समान भयउ जस जाका॥
सेष सहस्रसीस जगकारन।
जो अवतरेउ भूमि भय टारन॥'

अर्थात् जो लक्ष्मणजी हजार शीश वाले शेष के और जगत् के कारण हैं, इत्यादि। यहाँ यदि लक्ष्मण जी शेष का कारण न मानकर केवल जगत् मात्र का कारण मानते हुये शेष का अवतार मान लिया जाय तो कुछ ऐसे प्रबल विरोध उठ खड़े होंगे जिनका यथार्थ समन्वय पूर्वक परिपार करना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव हो जायगा जैसे एक तो यह कि-कहीं श्रुति स्मृतियों में शेष को स्वतन्त्र रूपेण जगत् का कारण होना नहीं पाया जाता है और श्रीमन्नारायण को जगत् का कारण कहने वाली बहुत श्रुतिस्मृतियाँ है। दूसरे-जो जिसका कारण होता है वह उस पर शासन कर सकता है, कार्य अपने कारण पर नहीं। वैसे अवतार अपने अवतारी पर शासन

नहीं करता, अवतारी अपने अवतार पर शासन कर सकता है जैसे कि अष्टभुजी भूमा नारायण ने श्री कृष्ण और अर्जुन को आज्ञा दिया कि—

इह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ।'

भाग० ॥१०।८६।५६॥

और कृष्ण तथा अर्जुन ने जाने पर भी—

'ववन्द आत्मानम् ।'

भाग० ॥१०।८६।५८॥

और लौटते समय भी आज्ञा स्वीकार करते हुये—

'ओमित्यानम्य भूमानम् ।'

भाग० ॥१०।८६।६१॥

प्रणाम किया था ।'

लक्ष्मण को शेषावतार मानने के विरुद्ध मानस में ही वर्णन मिलता है कि धनुर्भंग के कुछ क्षण पूर्व लक्ष्मण जी ने शेषादिकों को आज्ञा दिया कि—

दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला ।
धरहु धरनि धरि धीर न डोला ॥
राम चहहिं सङ्कर धनु तोरा ।
होहु सजग सुनि आयसु मोरा ॥'

यहाँ स्पष्ट ही धरणी धारण करने वाले अहि को आज्ञा दी गई है। वह अहि सहस्त्र सीस वाले शेष ही हैं, वासुकी आदि नहीं। तीसरे रामचरित्रमानस में लक्ष्मण जी के लिये ऐसे कोई प्रयोग नहीं हैं जो शेष अथवा शिव में संघटित होकर लक्ष्मण जी को शेष या शिव का अवतार सूचित करते हों।

'नाना विधि प्रहार कर सेषा ।'

कुछ लोग इस अर्द्धाली में 'शेष' शब्द का प्रयोग देख कर लक्ष्मण जी को नागराज शेष का अवतार मान बैठे हैं। परन्तु यह नहीं विचारते कि स्वयं श्री गोस्वामीजी ने ही बरवैरामायण में उन नागराज संकर्षण शेष से लक्ष्मणजी को भिन्न ही लिखा है। यथा—

'एक जीह कर लछिमन दूसर सेष'

व० रा० ॥

अर्थात् एक जिह्वावाले सुमित्रा कुमार लक्ष्मणजी, सहस्र सिर दो सहस्र जिह्वावाले भुजगराज शेष नहीं हैं। प्रत्युत उनसे (नागाधिपति से) भिन्न दूसरे शेष हैं। तात्पर्य यह कि 'नागाधिपति संकर्षण का 'शेष' नाम रूढ़ि हो चुका है और सुमित्रा नन्दन का रूढ़ि नाम तो लक्ष्मण है परन्तु श्रीरामजी के यथार्थ रूप से सच्चे सेवक होने से 'शेष' नाम सार्थक (शेषत्वार्थ-विधायक) है। लक्ष्मणजी ने ही एक मात्र सच्चे सेवक के नाट्य को पूरा किया है।

यद्यपि कि श्रीराब्धिशायी श्री मन्नारायण और श्रीरामजी में स्वरूपतः अभेद है परन्तु नर नाट्य के अवसर पर

'राम सेवार्थमागताः।'

इस नारद पांचरात्र के राम सेवा (लीला रूप राम सेवा) करने के लिये श्रीमन्नारायण श्री लक्ष्मण रूप या यों कहिये कि त्रिपाद्विभूति (साकेत) वाले अपने असली रूप में अवतीर्ण हुये। सेवक रूप में आने से शेष कहा गया है।

'शेषः परार्थत्वात्' (मीमांसादर्शनम् ३)

इस सूत्र के अभिप्राय को लेकर आचार्य प्रवर स्वामी श्री

रामानुजाचार्य ने वेदार्थ संग्रह में स्पष्ट रूप से कहा है कि जो सब प्रकार की सेवा करता है वह शेष कहा जाता है। यथा—

'परातिशयाधानेच्छयोपादेयत्वमेवयस्य स्वरूपं स शेषः ॥'

श्री यामुनाचार्य ने भी अपने स्तोत्ररत्न आल मन्दार में नागराज संकर्षण को शेष कहे जाने का यही कारण बतलाया है कि भगवान् की सर्वप्रकार से सेवा रूप शेषत्व के यथार्थतया निर्वाह करने से लोग उन्हें शेष कहते हैं, वह यथार्थ ही है। यथा—

'निवास शय्याऽऽसन पादुकांशुकोपधान
वर्षाऽऽतप वारणादिभिः।
शरीर भेदैस्तव शेषतांगतै—
र्यथोचितं शेष इतीरितं जनैः ॥'
आ० मं० ४०॥

इसी कारण मेघनाद से द्वितीयवार युद्ध करने जाते समय श्री लक्ष्मणजी ने शपथ पूर्वक प्रतिज्ञा किया कि—

जौं तेहि आजु बधे बिनु आवौं।
तौ रघुपति सेवक न कहावौं ॥'

शंका हो सकती है कि जब सेवा करना ही शेष कहाने का कारण है तब भगवत्स्वरूप फिर अन्य मुख्यांशावतार दो भाई श्री भरत एवं शत्रुघ्न तथा नित्यजीव श्री हनुमदादि भी तो सेवा करने वाले ही हैं, इनको कहीं शेष क्यों नहीं कहा गया ?

इस संभवित शंका का समाधान क्षेपक कथा बाल्मीकीय में तथा अन्य रामायणों में वर्णित श्री लक्ष्मणचरित्र ही है कि लक्ष्मण जी सरीखी राम सेवा अन्य किसी ने नहीं किया। तब कोई शेषत्व (दासत्व) पद कैसे पा सकता है। यहां तक कि

सीतात्याग सरीखे हृदय विदारक और महा गर्हित कर्म को भी श्री लक्ष्मणजी ने करके—

'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'

के नियम को चुपचाप हृदय पर वज्र रख कर पालन किया, जिस आज्ञा को कि भरत और शत्रुघ्न ने साफ-साफ उल्लंघन कर दिया था। रामजी से स्पष्ट कह दिया कि यह हमसे न होगा। यदि यहां लक्ष्मण जी भी इन्कार कर जाते तो सेवा धर्म कैसे पालन होता। दासत्व (शेषत्व) धर्म कठिन है।

'सेवा धर्म कठिन जग जाना।'

जानते हुये भी श्री लक्ष्मणजी ने ही डंके की चोट पर दावे के साथ कहा है कि—

'नाथ दास मैं स्वामि तुम०।'

'परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्ष शतं स्थिते।'

वा० रा० ३।१५।७॥

यहाँ तक कि शूर्पणखा से भी निःसंकुचित शब्दों में कह दिया कि—

'सुन्दरि सुनु मैं उन कर दासा।
पराधीन··· ··· ··· ··· ··· ···'॥'

इसी से तो श्रीराम जी ने भी लीला नाट्य में माता पिता, भरत शत्रुघ्न भाई, प्राण प्रिया अर्द्धाङ्गिनी भगवती श्री सीता जी आदि सब प्रिय परिजनों का वियोग चिरकाल तक सहन कर लिया परन्तु श्री लक्ष्मण जी का वियोग क्षण मात्र का भी सहन नहीं कर सके।

३—लछिमन दीख उमा कृत वेषा।
चकित हृदय भ्रम भयउ विसेषा॥

अर्थात् लक्ष्मण ने देखा कि उमा (सती) ने श्री सीता जी का वेष बना लिया है परन्तु हृदय से चकित हैं क्योंकि उन्हें (सती को) विशेष अर्थात् भारी भ्रम हो गया है। यथा—

'भ्रम वश वेष सीयकर लीन्हा।'

'अस संशय मन भयउ अपारा ॥'

भ्रम होने पर हृदय चकित हो हो जाता हैं जैसा कि काकभुशुण्डिजी ने स्वीकार किया है कि—

'भ्रम ते चकित राम मोहिं देखा।'

सारांश यह कि साक्षात नारायणावतार होने के कारण ही लक्ष्मण जी ने सती के मन का भेद अर्थात् 'चकित हृदय होना' और 'विशेष भ्रमित होना' इत्यादि तथा कर्म का भेद अर्थात् सीता रूप धारण करना इत्यादि स्वाभाविक ही जान लिया और जो—

'कहि न सकत कछु अति गंभीरा।
प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा ॥'

कहा गया है उसका अर्थ है कि प्रभु-श्रीराम जी का प्रभाव जानते हैं कि वे (प्रभु) सती की माया में नहीं आ सकते। इसी से यह नहीं कहा कि ये श्रीसीता जी नहीं अपितु सती हैं। प्रत्युत मति धीर श्री लक्ष्मणजी कुछ बोले ही नहीं।

४ भ्रम जीव को होता है नारायण को नहीं। लक्ष्मणजी नारायण थे इसी कारण रामचरितमानस में कहीं भी लक्ष्मण को भ्रम होना नहीं पाया जाता। और कुछ लोग जो लङ्का काण्ड की—

'सो माया रघुवीर ही बाँची।
लछिमन कपिन से मानी साँची ॥'

इस अर्द्धाली से लक्ष्मणजी को भी उस राक्षसी माया के सत्य मानने वालों में कहते हैं वह उन कहने वालों का सरासर महान अज्ञान है। लक्ष्मणजी तो देखते मात्र झट राक्षसी माया को जान जाया करते थे। जिस समय मृगरूप में मारीच को देखकर (नर नाट्यपूर्त्यर्थ) श्रीसीता तथा रामजी उस मृग की प्रशंसा करने लगे तो तुरन्त ही लक्ष्मणजी ने स्पष्ट कह दिया कि 'यह मृग नहीं राक्षस मारीच है।' यथा—

'तमेवैनमहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम्।
अस्य मायाविदो माया मृगरूप मिदं कृतम्॥

वा० रा० ३।४३।५,७॥

शूर्पणखा के सुन्दर बनकर आने पर भी—

'गइ लछिमन रिपु भगिनी जाना।'

अतः लक्ष्मण को भी राक्षसाधिपति की माया को सत्य-मान लेने वालों में कहना अज्ञान नहीं तो क्या है? और ऐसा मानने में पूर्वापर के विचार से घोर विरोध भी तो पड़ता है। इसलिये उपरोक्त अर्द्धाली में आये हुये 'बाँची' शब्द को देहरी दीपक मानने से ही सब प्रकार को निर्विरोधता हो सकती है। अर्थात—

'सो माया रघुवीरहिं बाँचो। और 'बाँची लछिमन' परन्तु 'कपिन सो मानी साँची।' अर्थात् उस माया से रघुपति और लक्ष्मण बच गये परन्तु बानरों ने उसे सत्य मान लिया। इसी तरह—

'जाना प्रताप ते रहे निर्भय।'

परन्तु—

'कपिन रिपु माने फुरे।'

और भगवप्रत्ताप को—

'जाने-हर, हनुमान, लखन भरत।'

वि० प० ॥

प्रसिद्ध हैं। इसी से लक्ष्मण जी भी उस माया से रघुपति की तरह बँच गये।

श्री लक्ष्मण जी को सदैव के लिये राक्षसी माया से मुक्त जताने के लिये ही यहाँ उनकी चर्चा की गई है नहीं तो कोई प्रयोजन नहीं था क्योंकि लङ्का के युद्ध में किसी भी मोर्चे पर रणाङ्गण में श्रीराम और लक्ष्मणजी दोनों भाइयों ा साथ साथ लड़ने जाना रामचरितमानस में नहीं पाया जाता। हाँ यह अवश्य ध्वनित होता है कि जैसे श्रीरामजी राक्षसी मायाओं का विध्वंस करके वानरों की रक्षा किया करते थे वैसे ही श्री लक्ष्मणजी भी राक्षसी मायाओं से बानर भालुओं की रक्षा किया करते थे। इसी से तो जब बानरी सैन्य अकुला जाती तो सहसा पुकारने लगती कि

त्राहि त्राहि लछिमन रघुबीरा।'

५—चित्रकूट में भरत मिलाप से कुछ प्रथम ही लक्ष्मणजी ने जो कुछ थोड़े से शब्दों में कहा है वह तो श्री भरत जी के बहाने से जागतिक ऐश्वर्य प्राप्त साधारण (बद्ध) जीवों की दशा का चित्रण करते हुए नीति का वर्णन किया और अपने बहानेसे भगवद्भक्तोंका आत्मबल तथा प्रभुविषयिक निष्ठाकी पराकाष्ठा दिखलाई और श्रीरामजी ने भी वहीं पर श्री भरत जी के बहाने से स्वभक्तिविशिष्ट जनों का महत्व, त्याग एवं वैराग्य पूर्वक बर्णन किया जिसे कि कवि ने अन्त में स्पष्ट कर दिया कि—

'रामहिं सुमिरत तजहिं जन तृनसम विषय विलासि'

और उसी चित्रकूट ही के प्रसंग में—

'जौं सहाय कर संकर आई।
तौ मारौं रन राम दोहाई॥'

तथा मेघनाद बध की प्रतिज्ञा करते हुये—

जौं सत संकर करैं सहाई।
तदपि हतौं रघुबीर दोहाई॥'

कहकर लक्ष्मणजी ने अपने को शङ्करजी से सर्वथा भिन्न सूचित कर दिया है।

इन्हीं सब कारणों से लक्ष्मणजी को शेष या शिव का अवतार मानने के लिये श्रुति स्मृतीतिहास पुराणादि के ज्ञाता विद्वान् महानुभाव सहमत नहीं हो सकते।

'लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार॥'

यहाँ भी 'सकल जगत आधार' में शेष या शिवादि का ग्रहण करना किसी तरह उचित नहीं हो सकता। क्योंकि—

'यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपिवा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणःस्थितः॥
नारा० उ०॥

'सर्वाधारः सनातनः।'

इत्यादि श्रुति स्मृतियों ने सर्वाधार (सकल जगत का आधार) श्रीमन्नारायण को ही कहा है। शेष शिवादि को नहीं।

'ब्रह्माण्ड भुवन विराज जाके एक सिर जिमिरज कनी।
तेहि चह उठावन मूढ़ रावन जान नहि त्रिभुवन धनी॥'

यहाँ भी निम्न प्रकार से ही अर्थ करने पर पूर्वापर से निर्विरोध अर्थ की संगति बैठ सकती है कि जिनके एकही

सिर पर रजःकणिकावत् ब्रह्मंड भुवन विराजता है उनशेष के धनी अर्थात् कारण और उस सारे ब्रह्मंड भुवन मात्र (त्रिभुवन) के धनी अर्थात् कारण श्री लक्ष्मणजी को मूर्ख रावण उठाना चाहता था क्योंकि अपने (जीवत्व) स्वरूप को तथा उनके (ईश्वरत्व) स्वरूप को यथार्थ नहीं जानता था। यदि ऐसा अर्थ न करके उनको शेष मानलिया जाय तो–

'ब्रह्माण्ड भुवन विराज।'

कहकर पुनः उन्हीं को 'त्रिभुवन धनी' कहना व्यर्थ होगा। और आगेवाले–

'तुम कृतान्त भक्षक सुरत्राता।'

श्री रामजी के इस वाक्य में वैयर्थापत्ति आजायगी। क्योंकि 'कृतान्त भक्षक' विशेषण शेष या शिवादि का इस लिये नहीं बन सकता कि शिवादि भी कालाधीन हैं। तथा—

'कृतान्त भक्षक—'

विशेषण परमात्मा का ही है किसी जीव विशेष का नहीं। यथा—

'मृत्युर्यस्योपसेचनम्।'

कठ० उ० ॥ १ । २ । २४ ॥

'काल कालो गुणी सर्व विद्य०'

श्वे० उ० ६ । १६ ॥

'काल व्यालकर भक्षक जोई।'

'भुवनेश्वर कालहु कर काला'।

इसी प्रसङ्ग पर अध्यात्म रामायण में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

मूर्च्छितः पतितो भूमौ तमादातुं दशाननः ॥१०॥
हस्तैस्तोलयितं शक्तो न बभूवाति विस्मितः ।
सर्वस्य जगतः सारं त्रिराजं परमेश्वरम् ॥११॥
कथं लोकाश्रयं विष्णुं तोलयेल्लघुराक्षसः ।
ग्रहीतुकामं सौमित्रिं रावणं वीक्ष्य मारुतिः ॥१२॥

भागवत् में भी ऐसा ही हैं—

तस्यापि भगवानेष साक्षाद्ब्रह्ममयो हरिः ।
अंशांशेन चतुर्धाऽगात्पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ॥

भागवत ॥ ९ । १० । २ ॥

इत्यादि ।

'संदिग्धं तु वाक्य शेषात्'

इस जैमिनीय सूत्र में बतलाये हुये नियमानुसार—

'जो सहस शीश अहीश महिधर,
लखन सचराचर धनी ।'

का भी उपरोक्त प्रकार से ही अर्थ करना रामचरित्र-मानस के अनुकूल होगा ।

८—लछिमनहू यहि मरम न जाना ।
जो कछु चरित रचा भगवाना ॥

ब्रजभाषा का यह नियम है कि अव्ययात्मक न कार को जिस शब्द के साथ संबन्धित कर दिया जाता है वह शब्द बहुवचनात्मक बन जाता है । जैसे देव, नाम, विदुष, मुनि, ऋषि, आश्रम आदि शब्द एकबचनात्मक हैं । परन्तु वे ही नकार का पुछल्ला छोड़ देने से बहुवचनात्मक बनजाते हैं यथा—

'देव कीन्ह देवन पर दाया।'

'राम सकल नामन ते अधिका।'

'विदुषन प्रभुविराटमय दीखा।'

'ऋषिन गौरि देखी तहँ तैसी।'

सकल मुनिन के आश्रमन् जाइ जाइ सुख दीन्ह।'

इत्यादि। उसी प्रकार यहाँ भी एकवचनात्मक 'मरम' शब्द के साथ नकार सम्मिलित करदेने से 'मरमन' शब्द बन जाता है। अतः इस अर्द्धाली का ऐसा अर्थ होता है कि यद्यपि लक्ष्मण के वहाँ न रहते हुये रामजी ने सीताजी को अग्नि प्रवेश कराया, रूप बदलवाया तथा लीला का परामर्श किया इत्यादि। तो भी (न रहने पर भी) लक्ष्मण जी ने इन मर्मों (भेदों) को जान लिया। यदि कवि का अभिप्राय लक्ष्मण के न जानने से होता तो यह अर्द्धालो ही न लिखी जाती क्योंकि लक्ष्मण का वहाँ न होना तो दोहे में कह ही चुके थे। अतएव वहाँ न जानने में अर्थ करने में पिष्ट पेषण ही होता है। कवि ने लक्ष्मण जी का जानना इसलिये कहा कि वे नारायणावतार हैं। ब्रह्म दो चार दस बीस तो होता ही नहीं, वह तो एक ही है, हाँ—

'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना'

अथर्व वेद॥

'भगत हेतु लीला तनु गहई।'

के अनुसार ब्रह्म के अनेक विग्रह आविर्भूत हुआ करते हैं। परन्तु युगपत अनेक विग्रह होने पर भी स्वरूपतः अभेद होने से किसी एक विग्रह के कार्य तथा संकल्प को अन्य विग्रह भी जान जाते हैं। यह श्रुतियों का निश्चित सिद्धान्त है, इसीसे कहा गया कि भगवान् रामजी के रचे हुये भेदों को वहाँ न

रहने पर भी लक्ष्मणजी जान गये, यह भगवान् के एक विग्रह के कार्य को दूसरे विग्रहों का जानना हुआ। इसी तरह एक विग्रह के मन का भाव दूसरे विग्रह भी जान लेते हैं। यथा—

'लखन लखेउ प्रभु हृदय खँभारू।'

यहाँ दो प्रश्न हो सकते हैं। पहिला यह कि लक्ष्मणजी ने प्रभु के हृदय का खँभार तो लख लिया परन्तु समाधान क्यों न लख पाया? इसका उत्तर यह कि खँभार और समाधान दोनों रामजी के हृदय में एक ही साथ तो हुये नहीं, क्रमशः हुये। यहाँ कवि ने एक की बात समाप्त करके दूसरे की बात लिखी। वस्तुतः रामजी के हृदय में खँभार होते ही लक्ष्मणजी नीति कहने लगे और ठीक उसी समय रामजी के मन को—

'समाधान तब भा यह जाने।'

अतः प्रश्न का अवकाश ही नहीं। दूसरा प्रश्न यह हो सकता है कि—

'तेहि कौतुक कर मर्म न काहू।
जाना अनुज न मात पिताहू॥'

इसका समाधान भी जाना शब्द के देहली दीपक न्याय-पूर्वक निम्न प्रकार से अर्थ करने में ही ग्रन्थ की पूर्णतः निर्विरोधता अक्षुण्ण बनी रह सकती है कि भुशुण्डिजी कहते हैं कि हमारे व्यामोहित होने रूप उस कौतुक का भेद अर्थात् मेरे भ्रम के नाशार्थ जो मुझे श्रीरामजी ने अपनी माया का किंचत दिग्दर्शन कराया था उसे किसी ने नहीं जाना, यदि जाना तो 'जाना अनुज' परन्तु अन्य किसी ने नहीं, यहाँ तक कि 'न मात पिताहू।' न मात पिताहू कहने का कारण यह कि 'जाना अनुज कहने से माता पिता आदिक अन्य परिवार की भी अतिव्याप्ति स्वभावतः हो सकती है। उसी अतिव्याप्ति के व्यावर्तनार्थ 'न

मात पिताहू' कहा क्योंकि अनुज में तो स्वरूपतः अभेद है किंतु माता पितादि अन्य परिजन तो जीव विशेष ही हैं और यदि यहाँ अनुजों के भी न जानने से ही तात्पर्य होता तो प्रथम नकार से ही काम चलजाता। यदि उपरोक्त प्रकार से अर्थ न माना जाय तो इस चौपाई में दो नकार का पड़ना ही व्यर्थ हो जायेगा। चौपाई के उत्तरार्ध वाला दूसरा नकार अनुज के साथ लगाकर अनुजन मान लेने से तो माता पिता का जानना भी सिद्ध होजाता है जो किसी को ईष्ट नहीं है। और पहिला न कार 'मरम' शब्द के साथ सम्मिलित करके बहुवचनात्मक 'मरमन' शब्द इसलिये नहीं माना जा सकता कि उस माया दिखाने रूप कौतुक का मर्म केवल काकभुशुण्डिजी के भ्रम का निराकरण मात्र एक ही है बहुत मर्म नहीं हैं।

इसी तरह और भी मानसगत वाक्यों के पूर्वापर विचारने से यही सिद्ध होता है कि नारद पाँचरात्रानुसार लक्ष्मणजी को क्षीराब्धि निवासी श्रीमन्नारायण का ही अवतार मानना मानसकार को भी अभीष्ट है। शिव या शेषादि किसी जीव विशेष का नहीं। इस पर वेद का कहना भी सुन लेना अनुचित न होगा—

'स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत औषधीषु।
चित्र शिशुः परितमां स्यक्तून् प्रमातृभ्योऽधिक्र निक्रदद्गाः

ऋग्वेद १०। १। २॥

यजुर्वेद (वाजसनेय सं०) ११। ४३॥

तैत्तिरिय संहिता ४। १। ४। २॥

सन्दर्भः—

'अग्रे नयतीत्यग्निः।'

सर्व नियामक होने से ब्रह्म का नाम अग्नि है और—

'यस्य अग्निः शरीरं यस्य सर्वं शरीरम्'

इस श्रुति के अनुसार अग्नि ब्रह्म का शरीर है अतः इस मन्त्र में 'अग्नि' शब्द से 'ब्रह्म' को संबोधित कर दिया है। अन्वयार्थ [हे अग्ने !]= हे परमात्मन् ! आप। [रोदस्योः] =पृथ्वी और आकाश के मध्य में अर्थात् आपसे आप हुये * न कि माता-पिता के शुक्र शोणित रजवीर्य रूप से परन्तु दिखाने के लिये [गर्भोजातः, असि]= कौसल्या के गर्भ से जायमान हुये अर्थात [ओषधीषु]=अग्नि के दिये हुये चरूरूप औषधो में [विभृतः] मंत्रवेत्ताओं (वशिष्ठ; ऋष्य शृंगादिकों) से [कनिक्रदत्]= आवाहन किये जाने पर. भक्तों की [तमांस्यक्तून]=तमो मोहमयी रात्रि को [प्र,-परि]= प्रकर्षरूप से नाश करने के लिए [चारूः चित्रः]= सुन्दर तथा अनेक आश्चर्यमय [शिशुः]= बालक बनकर [मातृभ्यः]=कौशल्या, सुमित्रा एवं कैकेयी माताओं के गृह में चार रूप से [अधिगाः] प्राप्त हुये।

इस मंत्र में दिखाया गया है कि यज्ञाग्नि प्रदत्त चरु प्राशन मात्र से कौशल्यादि के गर्भ धारण करने से रामादि चार रूप से परमात्मा का अवतार होना अलौकिक जन्म हुआ।

'विष्णुरित्था परमस्य विद्वाञ्जातो बृहन्नभि याति तृतीयम्।
आसादयस्यपधो अकृत स्व सचेतसो अभ्यर्चन्त्यत्र ॥

ऋग्वेद १०। १। ३॥

सन्दर्भः—पूर्व मंत्रोक्त चरु प्राशनान्तर कार्य का स्पष्टीकरण इस मन्त्र में देवताओं किंवा वेद द्वारा किया जारहा है—

अन्वयार्थ:—

---

*'आप प्रगट भये विधि न बनाये।'

[विष्णुः, इत्था] = क्षीराब्धीश श्रीमन्नारायण, इस प्रकार [अस्य, परमम] = अग्नि प्रदत्त चरूरूप गर्भ से, मेघनादादि राक्षसों के बध रूप उत्कृष्ट कार्य को [विद्वान्, ज्ञातः] = जान कर, सुमित्रा के गर्भ से जायमान हुये अर्थात [बृहन्, तृतीयकम्] = विराट होते हुये भी, तीसरी माता सुमित्रा से प्रगट होकर तथा भाइयों में भी तीसरे होकर अर्थात् श्रीराम और भरत से छोटे होकर लक्ष्मणरूप से [अभियाति] = भक्तरक्षणार्थ शरीरधारण किये अतः श्रीलक्ष्मणजी अपने [अस्य,-आसायत्] = इस विग्रह के, भजन करने वालों को [स्वं, पयः-अकृत] = अपने क्षीराब्धि वैकुण्ठ का वास प्राप्त करा देते हैं। इसलिये [सचेतसः अत्र] = बुद्धिमान लोग इस लक्ष्मणरूप में भी श्रद्धापूर्वक नारायण का [अभ्यर्चन्ति] = पूजन करते हैं।

इससे यह तात्पर्य निकला कि जितने भगवदवतार होते हैं उन सब का मुख्य प्रयोजन भक्तानुग्रहत्व ही है, दुष्ट निग्रहत्व तो भक्तानुग्रह का शेषभूत होने से गौण है।

'अत उत्वा पितु भृतो जनित्रीरन्नावृधं प्रतिचरन्त्यन्नैः ।
ता ईं प्रत्येषि पुनरन्यरूपा असि त्वं विक्षु मानुषीषु होता॥

ऋग्वेद १०। १। ४॥

सन्दर्भः—

हे प्रभो आप जो चार रूप से अवतीर्ण हुये यह आपकी एकमात्र कृपा है।

अन्वयार्थः—

[अतः पितु भृतः] = इसलिये सारे जगत के पिता और [जनित्री] = माता तथा [अन्नावृधम्] = पोषकरूप [त्वा] आपको सभी ज्ञानी लोग [अन्नैः प्रतिचरन्ति] = अन्न क्षीरादि-

*पूजन सामग्रियों द्वारा भजते सेवा करते हैं [त्वम्]=आप माताओं के पूर्व जन्म के आराधन से प्रसन्न होकर तीन माताओं से प्रगट होकर [पुनरन्यरूपाः] उन्हें आराध्यरूपा मानकर पुत्रभाव से उन माताओं का [प्रत्येषि] = आराधन (सेवा) करते हैं क्योंकि [त्वम् मानुषेषु] आप अपने चरित्रों द्वारा मनुष्यलोक की [विक्षु, होता, असि]=प्रजाओं में यज्ञधर्मादि सदाचार के प्रवर्तक हैं।

अन्य श्रुति भी कहती है कि—

'धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः'।

रामता० उ० ॥ १ । ४ ॥

इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि भगवान भी अवतार लेकर माताओं को देवता वत् मानते हैं अतः सब को

'मातृदेवो भव'

इस श्रुत्यनुसार माता को देवतावत् मानना चाहिये।

'तिस्रो मातृस्त्रीन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचम विश्वमिन्वाम्॥

ऋग्वेद १ । १६४ । १० ॥

अथर्व० ९ । ९ । १० ॥

अन्वयार्थ:—

[एकः]=तत्वतः एक होते हुये भी चार रूप से कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा नाम वाली [तिस्त्रः मातृः]=तीन माताओं और [त्रीन पितृन]=जनयिता दशरथ, उपनेता

---

*'हिरण्य गर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यां उतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।'

शुक्ल यजुर्वेद ३१ ॥

वशिष्ठ और अध्येता विश्वामित्र इन तीन पिताओं की आज्ञा-[बिभ्रत्] पालन करते हुये भी शोक आयासादि में लीन न होकर [ऊर्ध्वम् तस्थौ]=अपने शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप में ही स्थित रहते हैं। चारों भाइयों के परमात्मा होने से ही [ईंन अवग्लापयन्ति]=वे कौशल्यादि तीनों मातायें प्रसव वेदना से पीड़ित नहीं हुईं। [दिवः पृष्ठ]=आकाश (अन्तरिक्ष) में स्थित होकर ब्रह्मादिक देवगण [अमुष्य, विश्वविदं]=इस सर्वान्तर्यामी के प्रतिपादन करने वाली [वाचम्, मन्त्रयन्ते]=वाणी (श्रौतमंत्र) का विचार (मंत्र द्वारास्तुति) करते हैं। अर्थात् श्रौतमन्त्रों से प्रार्थना किया कि आप महाराज दशरथ की तीन रानियों से पुत्र रूप में अवतीर्ण हुये हैं। यहाँ पुत्र एवं शिष्य होने पर भी त्रिमातृकत्व त्रिपितृकत्वादि बन्धन कारक नहीं हो सकता क्योंकि आप तो विश्व के प्रपंच से अतीत हैं।

(देखो बाल्मीकीय रामायण बाल काण्ड सर्ग १५ श्लोक १६ से २३ तक)

"चत्वारि ते असुर्याणि नामाऽदाभ्यानि महिषस्य सन्ति।
त्वमंग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवञ्चकर्थ।

ऋग्वेद १०। ५४। ४॥

अन्वयार्थः—[हे मघवन् ते]=हे धनवान् लक्ष्मीपते (सीतानाथ)! श्री राम अवतार काल में [महिषस्य] परम बलशाली आपके [चत्वारि नाम सन्ति]=राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न भेद से चार नाम हैं। तथापि [हे अंग त्वं येभिः]=हे सर्व प्रिय प्रभो! आपने उन भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न रूप से [असुर्याणि]=इन्द्रजिद्वध, लवणवधादि रूप जितने [कर्माणि-चकर्थ]=कर्म किये अर्थात् उनके द्वारा जो गुण कर्मात्मक घन-

नादारि, लवणारि आदि नाम हुये [तानि अदाभ्यानि विश्वानी] = उन लोकोत्तर कर्मजन्य सम्पूर्ण नामों को [तं वित्से] = आप ही प्राप्त करते हैं अर्थात् भरतादि सब नाम आपही के हैं।

☞ श्री लक्ष्मणजी को शेष और भरत एवं शत्रुघ्न जी को शंख चक्र किंवा तीनों भाइयों को त्रिदेवों का अवतार मानने वालों को इन वेद—मन्त्रों तथा उल्लिखित श्रुति स्मृत्यादि उदाहरणों पर विचार करना चाहिये।

जिस तरह भागवत में सहस्रभुजी विराट पुरुष क्षीराब्धीश को दाशरथी राम का षोड़शकलात्मक अंशावतार कहा गया है उसी तरह बैकुण्ठाधीश चतुर्भुज श्रीमन्नारायण को भी नारद पाँच रात्र की संहिताओं में श्री दाशरथी राम का अंश कहा गया है यथा—

'नारायणोऽपि रामाँशः शंख चक्र गदाधरः'

वाराह संहिता।

'द्विभुजो जानकी जानिःसर्वत्र समशोभते
भक्तेच्छातोभवेदेष बैकुण्ठे तु चतुर्भुजः॥'

महाशिव संहिता आदि।

महारामायण में शिवजी ने भी कहा है कि—

मत्स्यःकूर्मो वाराहो नरहरिरतुलो वामनो जामदग्न्यः,
सभ्राता कंसशत्रुः करुणमय वपुर्क्लेच्छविध्व सनश्च।
एतेसर्वेऽपिचान्ये तरणि कुलभुवोर्यस्यजाताः कलांशै-
स्त ध्यात्वंब्रह्मतेजोविमलगुणमयंरामचन्द्रं नमामि॥'

उन बैकुण्ठाधीश से भी नाना त्रैदेव उत्पन्न होते हैं यथा—

'वैकुण्ठः साकारो नारायणः तेष्वण्डेषु ।
सर्वेष्वेकैकः नारायणावतारो जायते,
नारायणाद्धिरण्यगर्भो जायते
नारायणादेकादशरुद्राः जायन्ते ॥'

नारायण उ० ३ । ४ ॥

इन्हीं को नारद पांचरात्र में—

'वैकुण्ठेशस्तु भरतः ।'

कहा गया है। श्रुति बैकुण्ठाधीश को 'विश्वंविभर्ति' शब्द से सम्पूर्ण विश्व का धारण तथा पोषण कर्ता कहती है। मानस में भी—

'विश्व भरण पोषण कर जोई।'

से भरतजी को बैकुण्ठाधीश कहा गया है। धारण और पोषणार्थक 'डुभृञ्' धातु का भरण रूप है जिसका प्रधान अर्थ धारण और गौण अर्थ पोषण करना है। इस चौपाई (विश्व-भरण०) में पोषण शब्द साथ में होने से भरण का अर्थ धारण करना ही है। ऐसा न मानने से 'भरण' शब्द की वैय-र्थापत्ति अनिवार्य है। रामचरितमानस में प्रायः ऐसा कोई शब्द नहीं आया है जो कि भरत को बैकुण्ठाधीश मानने में बाधक हो। रामजी ने तो स्पष्ट ही कहा है कि

'भरतहिं हमहिं कि अन्तर काऊ।' इत्यादि
'सर्वेषामवताराणामवतारी रघूत्तमः'

अगस्त्य संहिता ॥

'तस्मिन्साकेतलोके विधिहरहरिभिः संततं सेव्यमाने,
दिव्ये सिंहासनेऽस्मै जनकतनयया राघवः शोभमाने।

युक्तो मत्स्यैरनेकैः करिभिश्पितथा नारसिंहैरनन्तैः,
कूर्मैं श्री नन्दनैर्दैहयगलहरिभिर्नित्यमाज्ञोन्मुखैश्च ॥
यज्ञः केशववामनौ नरवरो नारायणो धर्मजः,
श्री कृष्णौ हलधृक तथा मधुरिपुः श्रीवासुदेवोऽपरः ।
एते नैकविधा महेन्द्र त्रिधयो दुर्गादयो कोटिशः,
श्रीरामस्य पुरोनिदेशसुमुखा नित्यास्तदीये पदे ॥'

वृहद्ब्रह्म संहिता ॥

सर्व शक्ति कलानाथं द्विभुजं रघुनन्दनम ॥'

सुन्दरीतन्त्र ॥

स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम् ।
परं च द्विभुजं रूपं तस्मादेतत्त्रयं यजेत् ॥'

आनन्द संहिता ॥

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि अष्टभुजी भूमा पुरुष भी दाशरथी राम के कलांशात्मक स्थूल विग्रह हैं। उन श्वेत द्विपाधिपति – भूमापुरुष नारायण से भी नाना अवतार होते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि जिस समय ब्राह्मण पुत्र के लिये अर्जुन को साथ लेकर भगवान श्री कृष्णजी श्वेत द्वीप गये थे उस समय भूमा पुरुष भगवान ने श्री कृष्णजी से सुस्पष्ट शब्दों में कहा था कि—

कलावतीर्णऽवनेर्भरा सुरान हत्वेहभूमस्त्वरयेतमन्ति में ।

भा० १० । ८५ । ५६

अर्थात तुम दोनों हमारी कला से अवतीर्ण हो इत्यादि । नारद पांचरात्र में उन्हीं श्वेत द्वीपाधिपति को—

शत्रुघ्नस्तु स्वयंभूमा० ।'

कहा गया है।

मंथरा के शपथ वाक्य को और शत्रुघ्नद्वारा दिये गये दण्ड को लेकर जो महानुभाव शत्रुघ्न को ब्रह्मा का अवतार सिद्ध करने का स्वप्न देखते हैं उनके शास्त्रज्ञान की बलिहारी वास्तव में वे बड़े दयनीय हैं, भगवान उन्हें सुबुद्धि प्रदान करें। यह तो एक छोटी मोटी लौकिक वाक्य प्रथा है कि अमुक कर्म का फल विधि देवे अथवा ईश व ईश्वर आदि देंगे। जैसे कि—

'कोउ कह जो भल है विधाता।
सब कहँ सुनिय उचित फल दाता ॥'
'ईस अधीन कर्मगति जानी।'
'ईस देइ फल हृदय विचारी ॥'

इत्यादि स्थलों पर विधाता, ईश आदि शब्दों से चतुर्मुख-ब्रह्मा आदि का ग्रहण इसलिये नहीं किया जा सकता कि श्रुति तो परमात्मा को ही कर्म फल दाता कहती है अन्य को नहीं यथा—

'एष एव साधु कर्म कारयतितं यमेभ्योकेभ्य उन्निनीषति ॥
एष एवासाधु कर्म कारयतितं यमधोनिनीषति ॥
बृ० उप० ॥

मंथरा के वाक्य में ही विधाता और दैव दोनों पाया जाता है यथा—

'तौ देइहि विधि हमहि सजाई।'

और दंड पाते समय कहा कि—

'आह दैव मैं काह नसावा।'

दूसरे यह शत्रुघ्न के लिये—

'जाके सुमिरनते रिपुनाशा।'

कहा गया है। और जीव के सब से प्रबल शत्रु—

'मोह मनोज आदि अविवेका।'

हैं। ये शत्रु ब्रह्मा शिवादि के सुमिरन से नष्ट नहीं हो सकते क्योंकि इन्हीं शत्रुओं के अधीन ब्रह्मा शिव आदि भी हो जाते हैं। यथा—

'शिव विरंचि कहं मोहै को है वपुरा आन।'
'मन महं करै विचार विधाता।' कि
'जेहि बहु वार नचावा मोहीं।'

मोहादि रूप प्रबल शत्रु ब्रह्मा आदि किसी के स्मरण से नाश हो जायें ऐसा किसी भी श्रुति स्मृति का निर्देश नहीं है। किन्तु इस विषय में सभी शास्त्रों का एक स्वर में यही कहना है कि—

'क्रोध मनोज लोभ मद माया।
छूटहिं सकल राम की दाया।'

और जो भगवान ने नारद से कहा था कि—

'तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं मोह मार मदमान।'

वह तो उनके अभिमान को और प्रज्वलित करने के लिये अतः वहाँ 'मिटहिं' से तात्पर्य मोह मारादि के वेग के क्षीण हो जाने में है न कि सर्वथा नष्ट हो जाने में। सर्वथा नष्ट तो भगवत्कृपा से ही होते हैं। नारद ने भी यही कहा कि— .

'कृपा तुम्हारि सकल भगवाना।'

स्वयं नारद जी ने ही मोह मनोजादि की कारण भूता माया से तब निस्तार पाया जब कि भगवान ने कृपा किया कि–

'अब न तुमहि माया नियराई।'

अस्तु कोई भी ऐसा वाक्य मानस में नहीं है जो कि भरत शत्रुघ्न लक्ष्मण को शिव ब्रह्मा अथवा शङ्खचक्र और शेषादि का अवतार कहने वाला हो। वाल्मीकीय रामायण के—

'रामस्य दक्षिण पार्श्वे पद्मः श्री समुपाश्रिता।
सव्येऽपि च महीदेवी व्यवसायस्तथाग्रतः ॥'

उत्त० १०६।६॥

इस श्लोक की व्याख्या करते हुये शिरोमणिकार ने सबकी पत्नियों का नाम भी लिखा है कि--

'पद्मा भरतस्य स्त्रीः'।

'श्रीः क्षीराब्धीश लक्ष्मणस्य स्त्रीः।'

महीदेवी भूमा नारायणस्य शत्रुघ्नस्य स्त्रीः।'

इत्यादि।

शंका हो सकती है कि क्या तब वैकुण्ठ, क्षीराब्धि और श्वेत द्वीप में नारायण नहीं थे जब कि भरतादि रूप से अयोध्या राम सेवार्थ आये थे ?

इसका समाधान इसी तरह समझना चाहिये कि जैसे साकेत से साक्षात् रामजी के अवध में आविर्भूत होजाने पर भी साकेत का वह स्थान रिक्त नहीं हुआ था, एक रूप से राम जी वहाँ भी थे। भरतादि स्वरूप के वैकुण्ठादि आने पर भी भरतादि एक एक रूप से साकेत में रामरूप की सतत सन्निधि में वर्तमान ही रहते थे। एवं जब जिस कल्प में साक्षात् क्षीराब्धिशायी नारायण श्रीनृसिंह और श्री कृष्ण रूप

में धराधाम पर आते हैं उस कल्प में अपने एक प्रतिनिधि रूप में शेष शय्यापर भी वर्तमान रहते हैं। इसी तरह भरतादि रूप में आने पर वे सब अपने एक एक रूप से बैकुण्ठादि में भी बर्तमान थे। तभी तो—

'हर हित सहित राम जब जोहे ।
रमा समेत रमापति मोहे ।'

कहा गया। यहाँ तक तो भरतादि के विषय में मानस का शास्त्रीय सिद्धान्त कहा गया। अब स्वयं रामजी के अवतार के विषय में मानस का सिद्धान्त क्या है—इसे समझने की चेष्टा की जाती है।

कुछ महानुभाव यह मानते हैं कि रामचरितमानस में जिस रामावतार की कथा का वर्णन है वह नारद मोह कल्प की कथा है और नारद श्राप क्षीरशायी श्रीमन्नारायण को हुआ था अतः वे ही दाशरथी राम हुए थे। और—

'नारद साप दीन्ह एक बारा।'
'नारद बचन सत्य सब करिहौं॥'
'मोर साप करि अंगीकारा ।
सहत राम नाना दुख भारा॥'
'पुनि नारद कर मोह अपारा' ।

इत्यादि विभिन्न प्रकरणों की उपरोक्त चौपाइयों के देखने से आपाततः यही मालूम भी पड़ने लगता है। परन्तु ग्रंथतत्व निर्णय की शैली से अनुसंधान करने पर यह निष्कष निकलता है कि क्षीराब्धिशायी या रमा वैकुण्ठाधीश विष्णु दाशरथी राम नहीं हुये थे प्रत्युत त्रिपाद्विभूतिस्थ परस्वरूप राम ही दाशरथी राम नाम से सदैव अवतीर्ण हुए हैं। उन्हीं

की कथा वेदों ने एवं शिव आदि वक्ताओं ने और महर्षि बाल्मीकि आदि सत्कवियों ने वर्णन किया है और मानसकार ने भी उसी परिपाटी का परिपालन किया है। इसे हम आगे दिखायेंगे।

ग्रंथ तत्वनिर्णय की शैली 'उपक्रमोपसंसहारादि' सात प्रकार की हम पहिले लिख चुके हैं, उन्हीं सातों प्रकार से यहाँ भी विचार कर लेना श्रेयस्कर होगा।

१—उपक्रम आरंभ में पार्वती ने पूछा कि—

प्रथम सो कारण कहहु बिचारी।
निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी॥
पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा।

यहाँ पार्वती ने नारायण-विष्णु आदि का अवतार नहीं पूछा क्योंकि उन्हें पूर्व जन्म ही से निश्चय है कि राम जी विष्णु से अवतार नहीं हैं। वन में देखी हुई राम प्रभुताई का स्मरण अभी तक भी है। वहाँ स्पष्ट देख चुकी हैं कि—

'सेवहिं सिव विधि विष्नु अनेका।'

और उन्हें यदि विष्णु आदिक का राम होना अभीष्ट होता तो—

'पुनि प्रभु कहहु विष्नु अवतारा।' या—
'पुनि कहु नारायन अवतारा॥'

कहतीं। शिव जी भी राम के ही राम होने का उपक्रम करते हैं यथा प्रथम ही—

'गिरिजा सुनहु राम कै लीला।'

कहा—

'गिरिजा सुनहु बिष्नु कै लीला ॥'

या—

'सुनु गिरिजा नारायन लीला ।'

आदिक न कहा। प्रत्युत यहाँ तक कह डाला कि—

एक बात नहिं मोहिं सुहानी ।'

वह कौन बात ? कि--

'तुम जो कहा राम कोउ आना ॥'

क्योंकि—

'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना ।
परमानन्द परेस पुराना ॥

'पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ० .... ॥'

'राम अनादि अवधपति सोई ।'

इत्यादि ।

आगे चलकर शिवजी ने फिर कहा है—

'राम जन्म के हेतु अनेका ।
परम विचित्र एक ते एका ॥'

यहाँ भी—

विष्नु जन्म के हेतु अनेका ।'

नहीं कहा और परम विचित्र इसलिये कहा कि कभी क्षीराब्धिशायी को नारद श्राप हुआ तो उनके बदले साकेताधीश राम का अवतार हुआ, कभी जयविजय एवं सनकादि के विवाद में रमा वैकुण्ठाधीश के बदले तथा कभी जलंधर के

उद्धारार्थ विष्णु के बदले राम ही ने दाशरथी राम नाम से अवतार ग्रहण किया और कभी स्वायम्भुवमनु के बचन में बँध जाने के कारण स्वयं अपने लिये ही (किसी के बदले नहीं) राम को राम होना पड़ा। यही सब एक से एक विचित्र हेतु है।

२ - उपसंहार--

'भक्त हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।'

'जब जब राम मनुज तनु धरहीं'।

काकभुशुंडिजी को यदि राम को किसी का अवतार कहना होता तो वे उपरोक्त पद्यांशों में—

'विष्नु धरेउ तनु भूप।'

'विष्नु मनुज तनु धरहीं॥'

अथवा—

'भक्त हेतु प्रभु धारेउ नारायन तनु भूप।'

'जब नारायन नरतनु धरहीं॥'

कहते। अतः काकभुशुण्डिजी का भी यही सिद्धान्त मालूम पड़ता है कि राम ही राम होते हैं, विष्णु नारायणादि नहीं। प्रत्येक रामावतार कालिक दशरथ आदिक सब पात्र सब कल्पों में प्रायः बदला करते हैं परन्तु राम वही साकेताधीश ही रहते हैं, इसी से काकभुशुण्डि जी का कहना है कि—

'उदर माँझ सुन अण्डज राया।

देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥'

'अवधपुरी प्रति भवन निनारी।'

'प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा॥'

और—

'भिन्न विष्नु सिव मनु दिसित्राता ।'
'दसरथ कौसल्या सुनु ताता ॥'
'विविध रूप भरतादिक भ्राता ।'

यद्यपि कि—

'भिन्न-भिन्न मैं दीख सब अति विचित्र हरियान ।'

परन्तु—

अगणित भुवन फिरेऊँ मैं राम न देखेउँ आन ॥'

आगे चलकर भी कहा कि—

'कोटि विष्नु सम पालनकर्ता ।'

इत्यादि—

३—अभ्यास—

'राम भक्तहित नरतनु धारी ।'

त्रिपाद्विभूतिस्थ राम ने ही दशरथ घर में नरतनु ग्रहण किया नहीं तो—

'विष्नु भक्तहित नर तनु धारी ।'

कहा जाता ।

'सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी ।
अवतरेउ अपने भक्तहित निज तंत्र नित रघुकुल मनी ॥'

यदि दाशरथी राम को क्षीराब्धिशायी या वैकुण्ठाधीश आदि का अवतार मानना होता तो यहाँ पर भी 'सोइ राम' न कहकर 'सोइ विष्णु' कहा जाता । मनु-तप प्रकरण में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि—

'उपजहिं जासु अंश ते नाना।
शंभु विरञ्चि विष्नु भगवाना॥'

और—

'भगत बछल प्रभु कृपानिधाना।
विस्ववास प्रगटे भगवाना॥'

(उन भगवान का नाम क्या है ?)

'राम वाम दिसि सीता सोई।'

कह कर जनाया कि जिनका सदैव से राम ही मुख्य ※नाम है। वे द्विभुज धनुषधारी राम ही दशरथ घर में अवतीर्ण होकर भी रामनाम से ही प्रसिद्ध हुये। श्रुति भी यही कहती है कि—

'तथा रामस्य रामाख्या भुविस्यादथ तत्वतः।'

अथर्ववेद।

अन्य नहीं। राम जी ने भी मनु से प्रतिज्ञा किया था कि—

※महाभारत शान्ति पर्व में

'यानि नामानि गौणानि तानि वक्ष्यामि भूतये।'

कहकर भीष्म ने विष्णु सहस्र नाम का वर्णन किया है। अतएव गौणानि पदसे निश्चित है कि विष्णु सहस्त्रनाम में कहे गये भगवन्नाम गौण हैं। और उसमें जो

'रामो विरामो विरतो०।'

कहा गया है वह राम भार्गव परशुराम और बलराम किंवा शालिग्राम आदि के लिये है। दाशरथी राम के लिये नहीं है क्योंकि-

'तादृङ् नामसहस्रैस्तु रामनाम समंमतम्।'

कहा गया है। और

'सहस्र नामतातुल्यं राम नाम बरानने।'

तो प्रसिद्ध ही है।

'नृप तव तनय होव मैं आई ।'

रामजी के जनकपुर विचरण काल में मैथिलीय नायिकाओं ने भी—

'विष्णु चारिभुज विधि मुखचारी ।'

कहकर राम को विष्णु आदि के अवतार होने का निषेध किया। भगवान् के आवेशावतार परशुराम जी ने भी—

'राम रमापति करधन लेहू ।'

कहकर राम को रमापति शब्द से प्रसिद्ध नारायणादि से अलग निश्चय किया पश्चात्—

'परशुराम मन विस्मय भयऊ ।'

कहकर कवि ने भी उसे पुष्ट कर दिया।

'हरहित सहित राम जब जोहे ।
रमा समेत रमापति मोहे ॥'

में तो स्पष्ट ही है। इसी तरह नारद जी ने तो खुले शब्दों में कह दिया कि—

'राम सकल नामन ते अधिका ।'
'जाके बल विरञ्चि हरि ईसा ॥'

और

'शंकर सहस विष्णु अजतोहीं ।
सकहिं न राखि राम कर द्रोही ॥'

कहकर हनुमान जी ने भी रामजी को नारायणादि के अवतार होने का निषेध किया।

४-अपूर्वता—

'बातन मनहिं रिझाइ शठ जनि घालेसि कुल खीस।
राम बिरोध न उबरिहसि सरन विष्नु अज ईस॥'

५—फल—

'अवध जनम जाचहिं विधि पाहीं॥'

क्योंकि—'उमा अवध वासी नरनारि कृतारथ रूप।
राम सच्चिदानन्द घन रघुनायक जहँ भूप॥'

६—अर्थवाद—

परात्पर परब्रह्म को किन्हीं कारणों वश अवतार लेना पड़े यही उसके लिये अर्थवाद है।

७—उपपत्ति—

ब्रह्म स्तुति बाल काण्ड, वेद स्तुति उत्तर काण्ड आदि।

इस प्रकार विचारने से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रीरामचरित्र मानस में—

'अवध पुरी रघुकुल मणिराऊ॥

से लेकर—

'प्रेम सहित मुनि नारद वरनि राम गुनग्राम।
सोभासिन्धु हृदय धरि गये जहाँ विधि धाम॥'

तक एक ही कल्प की की कथा कही गई है और वह उसी कल्प की है जिस कल्प में भानु प्रताप का रावण होना वर्णन किया गया है।

अब विचारना यह है कि यदि रामचरितमानस में भानु प्रताप के रावण होने वाले कल्प की कथा है तो फिर आकाश वाणी में—

'नारद वचन सत्य सब करिहौं ।'

क्यों कहा गया? केवल थोड़े से विचार करने पर यह समस्या भी हल हो जाती है कि नारद शाप की बात तो प्रत्येक कल्प में ही संघटित होती है क्योंकि नारद वचन तो केवल तीन ही हैं—

१—राजारूप होना यथा—

'बंचेहु मोहिं जवन धरि देहा। सोई तनु धरहु०।'

२—पत्नी बियोग से दुःखी होना यथा—

नारि विरह तुम होव दुखारी।

३—बानरों की सहायता लेना यथा—

करिहैं कीस सहाय तुम्हारी॥

इसके अतिरिक्त पराशक्ति सहित एवं अंशों सहित आदि नरतनु धरने के लिये नारद जी ने नहीं कहा था, और आकाश वाणी में तो—

अंशन सहित मनुज अवतारा। लैहौं०।

और—

परासक्ति. समेत अवतरिहौं।'

कहा गया है। यहाँ पर भी बाल की खाल खींचने का उपक्रम करने वाले कह सकते हैं कि श्रुति तो—

परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते।
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च॥

श्वे० उ०॥

इस प्रकार ब्रह्म को अनेक शक्त्याधिपति होने का प्रतिपादन करती है।

यहाँ (आकाशवाणी द्वारा) जिस पराशक्ति सहित अवतार लेना कहा गया वह पराशक्ति कौन है ? इसका उत्तर मनु प्रकरण में स्पष्ट रूप से मिल जाता है कि—

उपजहिं जासु अंसु गुनखानी।
अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि विलास सृष्टि लय होई।
राम वाम दिसि सीता सोई॥

यह वक्ता (शिवजी) का वाक्य है। आगे स्वयं राम जी ही की प्रतिज्ञा है कि—

'आदि सक्ति जेहि जग उपजाया।
सोउ अवतरिहिं मोरि यह माया॥'
'माया दम्भे कृपायांच'

कोष॥

'माया ज्ञान वयुनम्'

इस वैदिक निघण्टु के प्रमाण से ज्ञान का पर्यायवाची होने के कारण और कोष कृपा का पर्यायवाची कहता है इससे माया का तात्पर्य भगवत्कृपा स्वरूपा ज्ञान शक्ति अर्थात् परमाह्लादिनी शक्ति से हैं। श्री सीता महाराणीजू श्री रामजी महाराज की कृपा स्वरूपा हैं इसी से आप में कुछ ऐसे असाधारण गुण हैं जो कि विद्या एवं अविद्या उभय रूप से कही जाने वाली प्रपंचात्मिका माया में किसी तरह हो ही नहीं सकते।

उभय विभूत्यन्तर्गत निखिल पदार्थों के साधारण असाधारण दो भेद हैं। अतएव भगवद्गुणों में भी साधारणासाधारण दो भेद हैं। साधारण गुण वे हैं जो श्री राम भगवान् में तो

हैं ही दूसरों में भी पाये जाते हैं। और असाधारण वह हैं जो गुण केवल भागवान् श्री राम जी में ही हैं अन्यों में नहीं हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीराम जी की प्राण प्रिया अर्धाङ्ग भूता, परमाह्लादिनी एवं चिच्छक्ति रूपा श्री सम्प्रदाय की परमाचार्य एवं परमोपास्येष्ट देवी श्री जानकी महारानी में भी साधारणासाधारण भेद से दोनों प्रकार के दिव्य-गुण शास्त्र विख्यात हैं। साधारण गुण तो औरों में भी मिल ही सकते हैं। परन्तु असाधारण गुण औरों की कौन कहे श्री राघवेन्द्र सरकार में भी नहीं है। अर्थात् लीला रूप में वे गुण श्री सीता जी में ही रहते हैं। श्री राजेन्द्र राम रूप में नहीं। वे दिव्य असाधारण गुणों की तरह अनन्त एवं दिव्य हैं। उनमें से केवल एकाध गुणों का ही नाम यहाँ दिया जाता है। वे ये हैं:--

१--निरूपकत्व—प्रभा सूर्यवद्भगवत्तत्व निरूपिका। यथा--

‘अनन्याराघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा।’
‘अनन्या च मया सीता चन्द्रश्चन्द्रिकया यथा।’

प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई।
कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई॥

२—अनुरूपत्व—श्री राघवेन्द्र सरकार के अनुरूप आप ही हैं अन्य नहीं। यथा—

जेहि बिरञ्चि रचि सीय सँवारी।
तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी॥
अनुरूप बर दुलहिनी परस्पर।
लखि सकुचि हिय हर्षहीं॥

३—अभिमतत्व—

श्रद्धया देव देवत्वमश्नुते।

सीता सहस्र राम॥

रामपदारविंद रति करति स्वभावहिं लोइ।

पाँय पखारि बैठि तरु छाहीं।

करिहौं वायु मुदित मनमाहीं॥

सबहिं भाँति प्रिय सेवा करिहौं।

४—शेषत्व द्वारा प्राप्तित्व—

प्राणसंशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम्।

त्राहि त्राहीति भर्तारमुवाच दयया गिरा॥

५—पुरुष-कारत्व—

पितेवत्वत्प्रेयान् जननि परिपूर्णागसि जनै-
हिंतस्रोतो वृत्या भवति च कदाचित्कलुषधी।
किमेतन्निर्दोषः कइह जगतीत्वमुचितै-
रुपायै र्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसिनः॥

६—उपाय पूरकत्व—

विशेषज्ञप्तये भर्तुरभिगम्यत्व सिद्धये।
समस्त मङ्गला वाप्त्यै प्रथमं श्रीरिहोदिता॥

७—सर्व शक्ति कारणत्व—

उपजहिं जासु अंश गुण खानी।

अगणित उमा-रमा ब्रह्मानी॥

श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्तेः कीर्तिः क्षमा क्षमा ॥

८—रूपालौकिकत्व

'जासु विलोकि अलौकिक शोभा ।
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई ।
छबि गृह दीप सिखा जनु बरई ॥
सखिन मध्य सिय सोभति कैसी ।
छबिगन मध्य महाछबि जैसी ॥

इस रूपालौकिकत्व पर बहुत से कवियों ने बहुत कुछ कहा है परन्तु स्थानाभाव के कारण एकाध पद्य ही देकर सन्तोष करना पड़ रहा है।—

गृहेच यस्मिन्वसथस्मयास्पदे वृथैव यस्मिन्मुकुरावरक्षणम् ।
कपोल युग्मस्फटिकोपलोपमे तदीयकृत्यं क्रियते हि योजनैः

वेदोपनिषद् भाष्यकार स्वामी श्री भागवद्दाचार्य जी

सासु की बुलाई सिय आई अंगनाई बिच,
तादिन मृगाक्षिन कै हेरि हिय हरिगो ।
उलही दुकूल होइ दुलही के आय अंग,
चंचल चमक चक चौंधन में भरिगो ॥
घूंघुट उघारि मुख देखत दशा बिसारि,
फैलत प्रकाशचन्द तेज मन्द परिगो ।
गिरिजागिरागुमान सिंधुजा शची को शान,
काम वाम रूप को गुमान कूंच करिगो ॥
खोलि मुख दुलही को ननन्द लै नगीच बैठी,
देखिबे को युवतिन की यूथ जुरी बीसा है ।
आगे ते दायें ते बायें ते बिलोकैं सब,
निज मुख दीखैं पैन वाको मुख दीसा है ॥

'ग्वालकवि' आपस में अचम्भा सब मानि, कहैं
काको यह तिलस्मात काको बकसीसा है।
फिरि फिरि जायँ फिरि आय पूछैं सासुनते,
सीसा की बहू है कि बहू को बन्योसीसा है॥
ग्वाल कवि॥

कोटिन रती को रूप वारतीं तिनूका तोरि,
कोटि पूनो शरद सुधाधर गनै नहीं।
विकस्यो विभाति कोटि अरब अनन्त कंज,
सौरभित सोऊ नेकु भावत मनै नहीं।
उमा रमा शारदादि सुन्दरि समेटि सबै,
'यज्ञराज' तापै ताकी उपमा भनै नहीं॥
कोमल बधू को मुख हेरि हेरि कौशिलासों,
हौंशिला के मारे कछु बोलत बनै नहीं॥
कोटिन प्रयागहुँते परम पुनीता कोखि जाये,
भो निवास ऐसो परम पुनीता को।
'यज्ञराज' कैसे कै बखानि पार पैहौं कवि,
सुखद सुभाव गुण गौरव के गीता को॥
वेश में किशोरी अति भोरी राजहंसिनीसी,
परायण पतिव्रत पालि वे अधीता को।
कौसिला सराहैं मिथिलेश भामिनी को भाग्य,
रामहुते सौ गुनो बिलोकि रूप सीता को॥
यज्ञराज॥

ये उन पै उनहूँ इन पै बलि हैं बलि हैं मुद में पगते हैं।
ये उनके रुख राखैं सदा अलि वे इन राखन में खगते हैं॥
पै मिथिलेश किशोरी छटा अवलोकि लला अति ही ठगते हैं।
मोद जो सांची कहौं छबि में तो लली से लला लघु ही लगते हैं॥
'मोदलता'॥

९—असामान्य क्षान्तित्व—

मातर्मैथिली राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रोऽपराधास्त्वया,
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठीकृता।
काकंतश्च विभीषणं शरणमित्युक्ति क्षमौ रक्षतः,
सानः सान्द्र महागसं सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी॥

श्री सीताजी के गुणानन्तत्व पर वेदों का निर्देश है कि—

अर्वाची सुभगे भव सीते ! वन्दामहेत्वा।
यथा नः सुभगाअससि यथा नः सुफलाअससि॥

ऋग्वेद ४। ५७। ६॥
अथर्ववेद ३। १७। ८॥
तै० आ० ६। ६। २॥

[हे सुभगे हे सीते =] सबका कल्याण देनेवाली, सम्पूर्ण राक्षसोंका अन्त करनेवाली हे सीताजी [त्वां वन्दामहे नः]= हमलोग आप की बन्दना करते हैं, हम लोगों का [यथा अर्वाची भव]= जैसे कल्याण हो वैसा करने के लिये अनुकूल होइये [सुभगा अससि]— आप तो अपने जनों को ऐश्वर्य देने वाली हैं और [सुफला अससि]= भक्त प्रति—पक्षियों का नाश कर के उन्हें दीप्तिमान कर ने वाली हैं।

देवताओं के स्तुति करके पूजन करलेने ये बाद मनुष्यों व ऋषियों ने प्रार्थना किया।

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमतामरुद्भिः।
सानः सीते पयसाभ्यववृत्स्वोर्जस्वती घृतव त्पिन्व-ाना॥

अथर्ववेद ३।१७।९॥

अर्थः—[विश्वेदेवैः मरुद्भिः सीता]= विश्वेदेवताओं और मरुतों के द्वारा श्री सीताजी [घृतेन मधुना सम् अक्ता]= घृत

और मधु (शहद) से भली प्रकार आक्त की गईं अर्थात् पूजी गईं तथा [अनुमता]=स्तूयमान हुईं [सीते ! सा]=हे सीते ! वही (देवताओं से पूजित) आप [घृतवत् पिन्वमाना]= घी (यज्ञीय उपकरणों से) परितुष्ट की गईं अतः [ऊर्जस्वती]=परम तेज वाली हैं। कृपा कर के [नः पयसा अभ्यववृत्स्व]=हम (शरणागत लोगों) को पय (लोक पर लोक के समस्त सुखों) से परिपूर्ण कीजिये ॥

अतः मानस के अनुसार परा शक्ति समेत अवतरिहौं से कही गई पराशक्ति श्री सीताजी ही हैं। उन्हीं के सहित अवततरित होना आकाश बाणी द्वारा कहा गया है।

स्मरण रखना चाहिये कि श्रुति में परात्पर ब्रह्म साकेताधीश रामजी के लिये ही रूप आदि पाँच कल्पनायें कही गईं हैं। वे पाँच कल्पनायें ये हैं—

१—रूप---पुरुष, स्त्री, अंग और धनुर्बाणाद्यस्त्रशस्त्रयुक्त द्विभुज आदि। २-वर्ण-श्यामत्वादि आकृति। ३-वाहन ४ शक्ति ५ सेना। यथा—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना ॥
रूपस्थानां देवतानां पुस्त्र्यंगास्त्रादि कल्पना ।
द्वि चत्वारि षडष्टाऽऽसां दशद्वादश षोड़श ॥
अष्टादशामी कथिता हस्ता शंखादिभिर्युताः ।
सहस्रांतास्तथातासां वर्ण वाहन कल्पना ॥
शक्ति सेना कल्पना च ब्रह्मण्येव हि पंचधाः ।
कल्पितस्य शरीरस्थ तस्य सेनादि कल्पना ॥

राम तापिन्युपनिषत्पूर्वार्द्ध ७-१० ॥

आकाश वाणी में पराशक्ति आदि के सहित अवतार लेने को कहा है अतएव श्रौत सिद्धान्तानुकूल मानस की यह अवतार सम्बन्धी आकाशवाणी साकेता धीश राम की ही है। वे ही---राम ही राम हुये, शेष शायी आदि राम नहीं होते। महर्षि वाल्मीकिजी ने तो राम जन्म काल में ही (नाम करण से पहिले ही) कहा कि—

'कौशल्याऽजनयद् रामं दिव्य लक्षण संयुतम् ।'

बा० रा० १।१८।१०॥

यदि आदिकवि प्राचेतसमहर्षि को राम का ही राम होना अभीष्ट न होकर विष्णु का राम होना अभीष्ट होता तो—

'कौशल्याऽजनयद् विष्णुं० ।'

कहते। अस्तु राम के अतिरिक्त दूसरे (नारायणादि) की यह आकाशवाणी सम्भवित ही नहीं हो सकती और जब आकाशवाणी ही अन्य की नहीं है तो अन्य (क्षीराब्धिशायी वा रमावैकुण्ठाधीश आदि का) रामावतार होना कैसे सिद्ध हो सकता है।

बैठे सुर सब करहिं विचारा ।

में जो— **पुर बैकुण्ठ जान कह कोई ।**

कोई कोई देवता बैकुण्ठ जाने का विचार करते थे उनके संतोषार्थ—

कश्यप अदिति महातप कीन्हा ।

कहा गया क्योंकि जयविजय रावण काल में भी—

कश्यप अदिति तहाँ पितु माता ।

कहा गया था। दूसरे वामन एवं वाराहावतार बैकुण्ठ से ही हुआ था इसे वे लोग जानते हैं और वामनावतार भी कश्यप

अदिति से ही हुआ था और वामनावतार के बाद में भी कश्यप और अदिति ने महातप किया था। यथा –

'अगणित युगतेपे प्राप्य विष्णोः गुरुत्वं,
सतिय सुत मरीचेश्वास्तत्रान् राघवत्वम्।
अथ कुशिकसुताद्यास्तत्सुत पदध्यात्वा
समयमुन्मुषित्वा सिद्धिमिष्टामवापुः ॥'

किशोर काव्य रामायण पूर्वार्द्ध १।१०।१५॥

और मनु शतरूपा ही कश्यप अदिति हुये हैं इसीसे आकाशवाणी द्वारा मनु शतरूपा का नाम न लेकर कश्यप अदिति का नाम लिया गया। मनु के कश्यप होने की बात पुराणों में विस्तार से कही गयी है। पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में लिखा है कि मनु ने भगवान से तीन जन्मों तक अपना पुत्र होने का वरदान माँगा था यथा—

स्वायंभुवो मनुः पूर्वं द्वादशार्णं महामनुम्।
जजाप गोमती तीरे नैमिषे विमले शुभे ॥
तेन वर्ष सहस्रेण पूजितः कमलापतिः।
मत्तो वर वृणीष्वेति तम्प्राह भगवान हरिः ॥
ततः प्रोवाच हर्षेण मनुः स्वायम्भुवो हरिम्।
पुत्रस्त्वं भव देवेश त्रीणि जन्मानि चाच्युत ॥
त्वां पुत्रलालसत्वेन भजामि पुरुषोत्तमम्।

पद्मपुराण उ० ख० अ० २४२६११॥

तीन जन्मों तक मनु शतरूपा को भगवान् के पिता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रथम जन्म में कश्यप अदिति हुये, दूसरे जन्म में दशरथ कौसल्या हुये और तीसरे जन्म में

किसी महर्षि के मत से वसुदेव देवकी हुये, किसी के मत से कल्कि भगवान् के माता पिता हरिव्रत और देव प्रभा होंगे।

कुछ लोगों के मुख से सुना जाता है कि स्वायंभुव मनु और कश्यप तो एक ही काल में थे तब दोनों एक ही कैसे हो सकते हैं? पुराण वेत्ता लोग जानते हैं कि इस वर्तमान श्वेत वाराह कल्प के प्रथम मन्वन्तराधीश स्वायम्भुव मनु हुये हैं और आज के वर्तमान (श्राद्ध देव) वैवस्वत मनु के प्रथम त्रेता युग कश्यप अतिदि से वामनावतार हुआ है। और इन्हीं सूर्य पुत्र वैवस्वत मनु के चौबीसवें त्रेता में दशरथ हुये थे जिनसे कि रामावतार हुआ। तब भला स्वायम्भुव मनु और कश्यप के एक होने में कौन सी अड़चन मानी जा सकती है। और अब तो रामायणी समाज में भी कितने प्रतिष्ठित रामायणी भी स्वायम्भुव मनु और कश्यप को एक मानने लग गये हैं। और पूज्यनंगे परमहंस श्री अवध बिहारी दास जी भी वि० सं० १९८९ में प्रकाशित अपनीश्रीरामचरितमानस के—

कश्यप अदिति महातप कीन्हा।

की व्याख्या करते हुये पृष्ट ४७ में लिखते हैं कि 'कश्यप अदिति मनु शतरूपा ने महातप किया है, उनको मैं पूर्व में बर दे चुका हूँ कि जब तुम अवधभुआल होंगे तब मैं तुम्हारे गृह में अवतार लूँगा।'

अतः यही सिद्ध है कि 'कश्यप अदिति' की चर्चा करके जो वैकुण्ठ जाने के इच्छुक थे उनको प्रतीति दिलाई गई और—

नारद वचन सत्य सब करिहौं।

से उनको प्रतीति दिलाई गई जिनकी अभिलाषा कि क्षीर समुद्र जाने को थी।

पुर बैकुण्ठ जान कह कोई।
कोइ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥

का स्पष्टी करण यह है कि----

चतुर्युग सहस्राणि दिनमेकं पितामहः।

ब्रह्मा के एक दिन में चौदह इन्द्र हो जाते हैं और विष्णु पुराण के अनुसार इन्द्र के साथ साथ मनु सप्तर्षि और देवता आदि बदल जाते हैं। ब्रह्मा का एक अहोरात्र एक कल्प कहा जाता है और—

कल्प-कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं।

से सिद्ध है कि ब्रह्मा जी बहुत बार रामावतार देख चुके हैं। इससे जानते हैं कि रामावतार कभी भी लीला विभूति के किसी भी स्थान (क्षीरसागर बैकुंठादि) से नहीं होता। यद्यपि कि आपादि, लीला विभूति में ही होता है परन्तु त्रिपाद्विभूतिस्थ साकेताधीश राम ही दाशरथी राम होते हैं यथा श्रुतिः—

तथा रामस्य रामाख्या भुविस्यादथतत्त्वतः।
अथर्ववेद॥

ब्रह्मा जानते हैं कि हम लोग त्रिपाद्विभूति में तो इस समय जा हीं नही सकते क्योंकि वहाँ तो मुक्त जीव ही जा सकते हैं जैसा कि—

यत्र गच्छन्ति सूरयः।

यह श्रुति कहती है। और देवतागण—

ऊँच निवास नीच करतूती।

तथा स्वयं देवताओं की स्वीकृति है कि—

भव प्रवाह संतत हम परे।

के अनुसार देवता लोग बद्ध हैं अतः त्रिपाद्विभूति में जा नहीं सकते और क्षीर सागर या रमा बैकुंठ आदिक में जाने से काम नहीं चलेगा क्योंकि ये लोग तो स्वयं ही रावण से पीड़ित हैं यथा—

'रावण सों राजरोग बढ़त विराट उर
दिन-दिन विकल सकल सुखराँकसो।
कविता० सु'० ॥

ब्रह्मा तो इस प्रकार उपरोक्त विचार में हैं कि—

'कहाँ जाई का करी।'

और देवतागण क्षीर सागरादि जाने के विचार में हैं क्योंकि रामावतार की व्यवस्था तो इन्हें मालूम ही नहीं, क्यों कि ब्रह्मा के एक दिन में ही देवताओं के कई जन्म हो जाते हैं अतः वे तो यही जानते हैं। वृन्दा का श्राप वैकुण्ठाधीश को हुआ था, जय विजय को भी बैकुण्ठ में ही श्राप हुआ था, वाराह एवं वामनावतार बैकुण्ठ से हुआ है। नारद श्राप क्षीरशायी को हुआ था और नृसिंहावतार भी क्षीराब्धि से ही हुआ है यथा—

'क्षीरोदार्णवशायिन्नृकेशरिणम्।
नृ० ता० उ० ॥

अतः देवता लोग अनुमान करते हैं कि नृसिंह वामनादि की तरह रावणवधार्थ भी क्षीराब्धि या बैकुंठादि से कुछ व्यवस्था होगी, अतएव वहीं जाना ठीक होगा परन्तु दोनों जगहों में से कहाँ जाना उचित है यही विचार हो रहा है। इधर ब्रह्माजी उपरोक्त प्रकार से दूसरे ही विचार में मग्न हैं। अतः कहा गया कि—

बैठे सुर सब करहिं विचारा।

इसी पर शिवजी ने कहा कि—

अवसर पाइ वचन इक कहेऊँ।

अवसर पर कही गई बात काम करती ही है यथा—

रानि रायसन अवसर पाई।
अपनी भाँति कहब समुझाई॥
अवसर जानि सप्तरिषि आये।

इत्यादि। यथा—

अवसर पाइ वचन इक कहेऊँ।

प्रश्न—कौन अवसर मिला?

उत्तर— ब्रह्मा का विचार तो प्रायः मन में ही होता रहता है यथा—

ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना।
मन महँ करइ विचार विधाता।'

और देवताओं का विचार तो खुले शब्दों में हो ही रहा है।

कह विधि तुम प्रभु अन्तरजामी।

के अनुसार शिवजी ब्रह्म के मन को जानकर बोले कि वे सचराचर तथा मेरे स्वामी—

रघुकुल मणिमम स्वामि सोइ

सर्वत्र प्राप्त होने वाले हैं। कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है—

जेहि सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।
प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥

प्रीति प्रतीति जहाँ जाको तहँ ताको काज सर्यो ।
'राम कहाँ? सब ठाउं हैं' जहं न होउ तहं देउँ कहि ।

इत्यादि । अतः देवताओं की प्रतीत्यर्थ ही --

नारद वचन सत्य सब करिहौं ।

कहा गया । दूसरी बार नारद श्राप की चर्चा पंपासर पर आती है -- जिसका समाधान भी यही है । नारद ने सोचा कि-

मोर साप करि अंगीकारा ।
सहत राम नाना दुख भारा ॥

कहूँ एकदा भूल कै मैं पयवासिहिं साप ।
सो परतम औतारहूँ गहे सहे सन्ताप ॥

(मानस मयंक मयूख)

यहाँ 'सहत विष्नु नाना दुख भारा ।'
या 'सह नारायन बहु दुःख भारा ।'

आदि नहीं सोचा । ऐसा क्यों सोचा ? इसलिये कि मैंने श्राप तो दिया था शेषशायी को और दुख सहते हैं राम । अतः

ऐसे प्रभुहिं बिलोकौं जाई ।

सोचकर पंपा सर गये ।

तीसरी बार काकभुशुण्डि कथित रामचरित की उपक्रमणिका में नारद मोह को चर्चा आती है कि--

पुनि नारद कर मोह अपारा ।

इसका समाधान भी शिवजी के ही वाक्यों द्वारा हो जाता है अर्थात् जब पार्वती जी ने पूछा कि--

प्रथम सो कारन कहहु विचारी।
निर्गुन ब्रह्म सगुन वपुधारी ॥

तब शिवजी ने उत्तर देने के पहिले ही कह दिया था कि—
ऐसेइ प्रश्न विहंगपति कीन्ह काक सन जाइ।

इसीसे वहाँ गरुड़ का प्रश्न कुछ रामकथा विषयिक नहीं माना गया क्योंकि प्रश्न तो वही पार्वती जी वाला ही था। रामावतार के विभिन्न कारणोंको कहते हुये जब शिवजीने—

नारद साप दीन्ह एक बारा।
एक कल्प तेहि लगि अवतारा ॥

(यहाँ तेहि लगि शब्द विचारणीय है। जिन्हें नारद शाप हुआ उनके लिये एक कल्प में रामावतार हुआ। पार्वती को निश्चय है कि रामावतार तो त्रिपाद्विभूति से ही हुआ है और त्रिपाद्विभूति में तो शापादि हो ही नहीं सकता, अतएव शाप तो अवश्य ही एकपाद्विभूति में ही हुआ होगा। इसीसे विस्तार पूर्वक पूँछना पड़ा कि—

नारद विष्नु भगत मुनि ज्ञानी।
का अपराध रमापति कीन्हा ॥

आदि अतः) जब पार्वती जी ने शाप कारण पूछा तब शिवजी ने विस्तार से वर्णन किया। उसी तरह रामावतार के कारण वर्णन के सिलसिले में काकभुशुंडिजी ने भी नारद शाप की चर्चा की होगी, और तब गरुड़ जी ने भी पार्वती जी की तरह शाप कारण-प्रसंग पूछा होगा, तभी काकभुशुंडि जी ने—

पुनि नारद कर मोह अपारा।

कहा। भानु प्रताप की कथा ही रावणावतार की कथा हैं इसी से

कहेसि बहुरि रावन अवतारा ।।

में उसका समावेश कर दिया गया। और मनु प्रकरण, आकाशबाणी दशरथ यज्ञ आदि रामावतार होने की कथा है इसी से—

प्रभु अवतार कथा पुनि गाई।

में शिवजी ने उन सब कथाओं का समावेश कर दिया। विचारने की बात है कि जब शिवजी ने प्रतिज्ञा किया कि—

'जेहि कारन अज अगुन अनूपा।
ब्रह्म भयेउ कौसल पुर भूपा।।
लीला कीन्ह जो तेहि अवतारा।
सो सब कहिहौं मति अनुसारा।।
लगे बहुरि बरनै वृषकेतू।
सो अवतार भयउ जेहि हेतू।।

इसके पश्चात् मनु एवं भानुप्रताप की कथा का वर्णन किया और भानु प्रताप को सपरिकर रावण होना कहकर उसी के अत्याचार से न कि नारद द्वारा शाप दिये हुये हरगण वाले रावण के अत्याचार से पीड़ित होकर पृथ्वी का ब्रह्मलोक जाना और ब्रह्मा की स्तुति का वर्णन मानस में किया गया है। अन्त में शिवजी ने यही कहा कि

कथा समस्त भुशुण्डि बखानी।
जो मैं तुम सन कही भवानी।।

इस कथन से तो काकभुशुण्डिजी के वक्तव्य में भी भानु प्रताप कल्प की कथा का समर्थन होता है, नारद कल्प का नहीं। अतः पूर्वा पर के देखने से यही निश्चय होता है कि श्रीराम चरित्र मानस में त्रिपाद्विभूति स्थित परस्वरूप श्रीराम जी का ही दाशरथी राम होना प्रतिपादन किया गया है। क्षीराब्धिशायी एवं वैकुंठाधीश आदि का नहीं। क्योंकि दूसरे तो कभी राम होते ही नहीं, यही श्रौत सिद्धान्त है और यहाँ मानस में तो ब्रह्म-स्तुति आकाशवाणी आदि प्रकरण से भी यही सिद्ध है कि राम ही राम हुये अन्य नहीं।

पुराणों में कुछ ऐसे शब्द आ गये हैं कि जिनसे आपाततः यही मालूम पड़ने लगता है कि विष्णु आदि भी दाशरथी राम होते हैं परन्तु थोड़ा सा विचारने से उसी श्रौत सिद्धान्त की परिपुष्टि होती है। पुराण तो वेदों के अर्थ को ही स्पष्ट करने वाले हैं, वे श्रुति के विरुद्ध कैसे रह सकते हैं। स्थानाभाव से केवल एक जगह का ही समन्वय किया जाता है। स्कन्दपुराण के निर्वाण खंडान्तर्गत राम गीता में शिवजी ने अयोध्याजी में जाकर राम जी से कहा है कि—

भार्गवोऽयं पुरा भूत्वा स्वीचक्र नाम ते विधिः।
विष्णुर्दाशरथी भूत्वा स्वीकरोत्यधुना पुनः
संकर्षण स्ततश्चाहं स्वीकरिष्यामि शाश्वतम्।
एकमेव त्रिधा यातं सृष्टि स्थित्यन्त हेतवे॥

इससे कुछ लोग विष्णु का राम होना श्लोक में दाशरथी शब्द होने के कारण मान लेते हैं परन्तु श्लोक गत वाक्य की संगति विचारने से वैसा मानना ठीक नहीं होता क्योंकि यह प्रायः सभी वेदान्ती स्वीकार करते हैं कि चतुर्भुज ब्रह्मा और शिवजी दोनों परब्रह्म के शक्त्यावेशावतार हैं और विष्णु

का परब्रह्म का कलांशावतार होना तो पुराण श्रेष्ठ श्रीमद्भागवत् हो

संभूत षोड़श कलम्० ॥

भा० १।३।१

से स्पष्ट घोषित कर रहा है।

स्कंद पुराण वाले उपरोक्त श्लोक युग्म के अन्त में कहा गया है कि—

सृष्टि स्थित्यन्त हेतवे।

अर्थात् ब्रह्मा में परब्रह्म की रजात्मिका शक्ति का आवेश सृष्टि-सृजन के लिये और शिव में परब्रह्म की तमात्मिका शक्ति का आवेश सृष्टि के अन्त (संहार) के लिये होता है और वह स्वयं सृष्टि-स्थिति (पालन) के लिये शुद्ध सत्वात्मिका शक्ति विशिष्ट षोड़श कलात्मक क्षीरशायी तथा बैकुण्ठाधीश आदि रूप से अवतार लेता है। और यह भी सर्वत्र प्रसिद्ध है तथा समस्त सच्छास्त्र मुक्त कण्ठ से कह रहे हैं कि भार्गव परशुराम और संकर्षण बल राम विष्णु के मुख्य अवतारों में हैं। न कि ब्रह्मा और शिव के।

'भार्गवोऽयं पुराभूत्वा' इस उपरोक्त श्लोक द्वय का तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि-ब्रह्मा-भार्गव, शिव-संकर्षण और विष्णु राम हुये प्रत्युत इसका अर्थ ऐसा है कि ब्रह्म आपकी जो रजात्मिका शक्ति सृष्ट्यर्थ ब्रह्मा में आवेशित होकर सृष्टि कराती है, उसी शक्ति ने पहिले परशुराम में भी आवेशित होकर दुष्ट क्षत्रियों का (धर्मज्ञ शिष्ट क्षत्रियों का नहीं) नाश करवा दिया। तत् शक्ति से आवेशित भार्गव परशुराम भी हे राम (आपका महत्व) जान लेने के बाद (ते नाम स्वीचक्रे) आपका नाम जपना स्वीकार किये (इसकी पुष्टि रामचरितमानस से ही होती है यथा—जब—

'जाना राम प्रभाउ तब ।'
जय रघुवंश वनज वन भानू ।

से—

कहि जय जय रघुकुल केतू ।
भृगुपति गये बनहिं तप हेतू ॥ तक

इसी तरह आपकी जो तमात्मिका शक्ति मुझ (शिव) में आवेशित होकर संहार कराती है तच्छक्यात्मक मैं अर्थात् मुझ में आवेशित होकर प्रलय कराने वाली आपकी वही तमात्मिका शक्ति संकर्षण में प्रविष्ट होकर उनसे खण्ड प्रलय कराती है। संकर्षण (शेष) द्वारा चार खण्ड प्रलय का होना श्री गोस्वामी जी ने भी कवितावली सुन्दर-काण्ड में लिखा है कि—

सेष मुख अनल विलोके बार बार हैं ।

मैं तो जपता ही हूँ वे संकर्षण भी आपका नाम जपना स्वीकार किये हैं। (शेष के राम नाम जपने का तो रामचरित मानस में ही प्रचुर प्रमाण हैं और संकर्षणावतार वासुदेव बलराम के राम नाम जपने का प्रमाण गोस्वामी जी ने इसलिये नहीं लिखा कि उनकी कोई चरचा ही नहीं उठाई गयी) ।

और जो आपकी षोड़श कलात्मक सत्वात्मिका शक्ति विष्णु रूपेण अवतरित हुई है वही विष्णु इस समय 'दाशरथी भूत्वा' दशरथ पुत्र होकर (भरत, लक्ष्मण आदि होकर), स्वरूपाभेद होते हुये तथा माधुर्य में बराबर के राज्याधिकारी होते हुये भी वे विष्णु अवतार भरत—,

'अधुना (ते नाम) स्वीकरोति ।'

इस समय भी आपका नाम जपना स्वीकर किये हैं अर्थात् जपते हैं यथा —

'पुलकगात हिय सिय रघुवीरू ।
जीह नाम जप लोचन नीरू ॥

राम राम रघुपति जपत श्रवत नयन जलजात ।'

स्वयं आपने ही कहा है कि—

'तापस वेस गात कृस जपत निरन्तर मोहि ।'

'स्वीचक्रे नाम ते विधिः ।'

का ते शब्द विचारणीय है । यदि यहाँ दाशरथी शब्द से श्रीराम जी का ग्रहण करना होता तो 'ते नाम' तुम्हारा नाम न कहा जाता बल्कि 'राम नाम' कहा जाता और द्वितीय श्लोक का पूर्वार्ध—

विष्णु र्दाशरथी भूत्वा स्वीकरोत्यधुना पुनः ।

इस तरह न होकर

विष्णो दाशरथी भूत्वा स्वीकरोष्यधुनापुनः ॥

इस तरह होता कि हे विष्णो ! इस समय आप दाशरथी होकर अपना राम नाम स्वीकार किये हैं । क्योंकि 'ते' शब्द का अर्थ (तव, तुभ्यम्) तुम्हारा, तुम्हारे लिये ही होता है त्वम् या भवान् आदि नहीं । शिवजी रामजी से ही कह रहे हैं कि तुम्हारा नाम त्रैदेव ग्रहण करते हैं ।

इसी तरह सब का समन्वय विचारने से हो जाता है ।

प्रश्न—यदि राम जी नारायणादि के अवतार नहीं हैं तो फिर रामावतार काल में उनके भृगुलता का चिह्न क्यों हैं ?

उत्तर—(क) जैसे सूत्रधार अपने असली (नट के) रूप में रंग मंच पर जब आता है तब उस समय किसी अन्य पात्र

का कोई चिन्ह नहीं धारण किये रहता और जब किसी पात्र विशेष के रूप में रंग मंच पर आता है उस समय उस पात्र का वाह्य प्रसिद्ध चिह्न (सब नहीं तो कोई कोई तो अवश्य ही) धारण कर लेता है। जिससे दर्शकों को नाट्याचार्य न मालूम पड़कर वह नट जिस पात्र विशेष के रूप में आया है वही मालूम पड़े। मालूम पड़ जाने से अभिनय का रस जाता रहता है। बस उसी तरह—

यथा अनेकन वेषधरि नृत्य करइ नट कोइ।
जोइ जोइ भाव दिखावै आपुन होइ न सोइ॥

तथा— **नटइव कपट चरित रघुराया।**

तात्पर्य यह कि जब रामजी अपने कारण (बचन बद्ध होने आदि) से लीला अयोध्या में अवतीर्ण होते हैं तब भृगुलता नहीं रहती जैसे नैमिष क्षेत्र में स्वायंभुव मनु के सामने प्रादुर्भाव काल में, कौशल्या के सूतिका गृह में प्रगट काल में और काकभुशुण्डि के बाल चरित्र दर्शन आदि में भृगुलता की चर्चा नहीं हैं। और जब नारायणादि के बदले रामजी त्रिपाद्विभूतिस्थ साकेत से लीला अयोध्या में अवतीर्ण होते हैं तब भृगुलता का चिह्न भी धारण कर लेते हैं और कभी कभी चतुर्भुजादि रूप भी दिखा देते हैं जैसे सुतीक्ष्ण को—

भूप रूप तब राम दुरावा।
हृदय चतुर्भुज रूप दिखावा॥

इत्यादि।

परन्तु जैसे सूत्रधार (नाट्याचा) के वेश परिवर्तन को आन्तरिक लोग तो जानते ही हैं दर्शक मण्डली में भी सयाने लोग समझ ही लेते हैं किन्तु बालक एवं साधारण लोग नहीं

समझते हैं वैसे ही जब रामजी नारायणादि के बदले रामरूप में आते हैं तब भी आन्तरिक लोग जैसे हनुमान, जनक, लक्ष्मण, भरत आदि तो जानते ही हैं। दर्शकों में भी विशेष विशेष लोग जैसे शेष, शारदा वेद, पुराण, शिव, ब्रह्मा, नारद, बाल्मीकि और व्यासादि भी जानते हैं कि अमुक बार का अवतार रामजी का अपने अमुक कारण से हुआ है, अमुक बार का क्षीराब्धिशायी के बदले अमुक बार का बैकुण्ठाधीश के बदले इत्यादि।

(ख) महामानसी पं० श्री घनश्याम त्रिवेदी जी ने एक मानस पूर्वपक्षावाली लिखी है। उसका समाधान कई सज्जनों ने किया है उनमें प० ब्रजभूषण जी, मुन्सिफ श्री परमेश्वरी दयाल जी और मानस मार्तण्डकार आशुकवि भक्तमाली श्री जानकी शरण (स्नेहलता) जी ने जो समाधान किया है वह अधिक स्पष्ट और सारगर्भित है। उन्होंने अपनी मानस मार्तण्ड टीका लिखने के पहिले श्री तुलसी पत्र दूसरे वर्ष के दसवें अङ्क में श्री राम जी के भृगुलता के विषय में इस तरह लिखा है—त्रिवेदी जी की शंका—पूर्वपक्ष—

मनु शतरूप के निकट प्रकटे नित्य किशोर।
तहाँ न द्विजपद चिन्ह लिपि, किंकारण पर भोर॥

मानस मार्तण्डकार का समाधान—उत्तर पक्ष—

कत्र कुलमणि क्रम मोर पर जिज्ञासु पर भोर।
सीख्यो अर्थ न सुगुरु ढिग भयो न हिये अँजोर॥
द्विजपद हतेउ रमेश उर आपु जाइ बैकुण्ठ।
का परधामहु जात रह कहु गुनि सुमति अकुण्ठ॥

नैमिष महँ प्रगटे सोई प्रभु परधाम निवासि ।
जासु अंश उपजहि अमित विधि हरि हर गुण रासि ॥
द्विज पद तँह किमि है सकत इमि शंका निरधार ।
पै आगे बरने जबै प्रगटे अवध मँझार ॥
तासु मरम गुन गूढ़ अति प्रभु स्व परत्व दुराइ ।
गुप्त रूप होइ प्रगट भे परौ न आपु लखाइ ॥
ताते मापति कार्य उर चिन्ह कांहि आकर्षि ।
धरि निज उर प्रगटे अवनि काहुहिं परै न पर्खि ॥

भावार्थ यह कि कवि कुलमणि परम तत्व वेत्ता ऋषि, जग्द्गुरु गोस्वामी जी कब ऐसी भूल कर सकते हैं ? जहाँ जो कुछ उन्होंने लिखा है किसी न किसी अभिप्राय से । किसी से यथावत् ग्रन्थ को न पढ़े हुये अबोध जिज्ञासु ही की यह भूल है। भृगुजी ने वैकुण्ठ में जाकर सृष्टि के अधिष्ठातादेव भगवान् विष्णु की छाती में लात मारा था; कुछ सृष्टि और प्रकृति से परे-परधाम की यह घटना नहीं और न हो ही सकती है, क्योंकि वह (परधाम) नितान्त (प्राकृत) व्यवहार शून्य है— निराश्रय है और जो भगवान् नैमिषारण्य में प्रगट हुये थे जिनके लिये राजर्षि मनु ने तपस्या की थी वे अनेक त्रिदेवों के शुद्ध कारण स्वरूप उसी परधाम साकेतके नायक परब्रह्म थे। फिर उनमें वह लाँछन कैसे हो सकता। गोस्वामी जी जैसे सम्यक ज्ञानशील ऋषि कवि उसका कैसे वर्णन कर सकते हैं। इसलिये यह शंका निर्मूल है। हाँ आगे नररूप में अयोध्या में प्रगट होने पर गोस्वामी जी ने अनेक जगह उसका वर्णन किया है यथा बाल स्वरूप में—

उर मनि माल पदिक की सोभा।
विप्र चरन देखत मन लोभा॥
उरधरसुर पद लस्यो०
उरबर विलसद्विप्र पादाब्ज चिह्नम्॥

इसका कारण है, इसका रहस्य है। वह यह कि भगवान को अपना वह परत्व छिपाकर बैकुण्ठ वासी (या क्षीर शायी) विष्णु का अवतार अपने को प्रगट करना था और उसके आवरण में अपना वह अलौकिक परत्व दर्शाना था। अतः उन्होंने रमापति के उस चिह्न को खींच कर अपने हृदय में धारण किया। जिसमें अपना रहस्य किसी को ज्ञात न हो।

(तुलसी पत्र से)

जो यह कहते हैं कि त्रिदेवान्तर्गत विष्णु से भिन्न शेष शायी या बैकुण्ठाधीश हैं उन्हें त्रिदेवान्तर्गत विष्णु का लोक (निवास स्थान) भी बताना चाहिये। आमोद, प्रमोद, संमोद आदिक लोक ही श्वेत द्वीप, क्षीराब्धि और बैकुण्ठ आदि के नाम से प्रख्यात हैं। वहाँ के अधिपति ही नारायण विष्णु आदि शब्द से कहे जाते हैं। और रामचरितमानस में इन्हीं सब के लिये विष्णु श्री पति आदि शब्द प्रयुक्त हुये हैं और ये सभी रामजी के अंश हैं।

प्रश्न -- विष्णु नारायणादि के बदले राम ही राम क्यों होते हैं विष्णु नारायणादि अवध में राम क्यों नहीं होते ?

उत्तर—(क) श्रीराम जी ने अवध पुरी को सब लोकों बैकुण्ठादिकों से भी प्रिय कहा है कि—

अवध सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ।

इसीसे अपने किसी दूसरे विग्रह को अवधेश राम न बना कर स्वयं ही अवतीर्ण होते हैं। इसी से शिवजी ने कहा कि—

राम अनादि अवधपति सोई।

अपने कथन में काकभुशुण्डि जी ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि—

जब जब राम मनुज तनु धरहीं।
भक्त हेतु लीला बहु करहीं॥

तात्पर्य यह कि अवध में राम ही बारम्बार मनुज राम बनकर लीला करते हैं।

(ख) जैसे वृन्दा का श्राप केवल बैकुण्ठाधीश को ही पाषाणरूप में अवतीर्ण होने को हुआ था, किन्तु भगवान के समस्त विग्रहों में स्वरूपाभेद होने के कारण सभी विग्रह शालिग्राम हुये। (उन सब के अलग अलग लक्षण तथा महत्व पद्मपुराणादि में विस्तार से वर्णित हैं) वैसे स्वरूपाभेद होने के कारण ही अन्य विग्रह के श्रापादि होने पर भी राम ही राम होते हैं, नारायणादि नहीं।

(ग) दुर्वासा महर्षि ने तप करके दस हजार बार राजर्षि अंबरीष के जन्म लेने के लिये भगवान् बरदान माँगा था। परन्तु स्वयं भगवान् ने ही भक्त के बदले दश जन्म लेना स्वीकार किया। यथा—

जाके नाम लिये छूटत भव जनम मरण दुःख भार।
अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनमें दश बार॥

(विनय पत्रिका)

अतः जैसे महाभागवत अंबरीष के बदले आपने दश अवतार ग्रहण किया वैसे ही अपने कलांशभूत क्षीराब्धिशायी

बैकुंठाधीश आदि के बदले राम ही राम हुये। यद्यपि श्री रामजी के सभी विग्रहों में अभेद है फिर भी लीला विभूति में होने से श्वेतद्वीपा-धिपति, क्षीराब्धीश, बैकुंठाधीश आदि स्वरूप स्वकारणभूत रामजी की सेवार्थ भरतादि रूप से अवतीर्ण होते हैं इस पर नारद पाँच रात्र का प्रमाण पहिले लिखा जा चुका है।

प्रश्न—यदि मानस में कहे गये विष्णु आदि शब्दों से क्षीराब्धीश बैकुंठाधीश आदि ही ग्राह्य हैं तो फिर विवाहादि अवसरों पर उनके लिये—

रमासमेत रमापति मोहे।'

कैसे कहा गया क्योंकि वे सब तो नारदपांचरात्रानुसार भरतादि भाइयों के रूप में साथ में वर्तमान थे ?

उत्तर—भूमा पुरुष के कलांश से श्री कृष्ण और बलदेव जी का अवतार हुआ था परन्तु भूमा पुरुष नारायण श्वेतद्वीप में ही थे। उन्होंने स्वयं ही श्रीकृष्ण और अर्जुन से कहा था कि तुम दोनों मेरी कला से अवतीर्ण हो यथा—

तावाहभूमा परमेष्ठिनां प्रभुर्बद्धाञ्जलि, सस्मितमूर्जयागिरा।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान्हत्वेहभूयस्त्वरयेतमन्तिमे ॥

भाग० १० । ८६ ५८ । ५९ ॥

और जब साक्षात् क्षीराब्धीश श्री कृष्ण और नरसिंह हुये थे तब उनके कलांशभूत वहाँ वर्तमान थे (जैसा कि ब्रह्माण्डादि पुराणों में वर्णित है) इसी तरह बैकुंठाधीश आदि भी एक रूप से भरतादि रूप में श्रीराम जी की सेवा करने आये थे और एक एक रूप से अपने अपने अधिकृत तत्तल्लोकों में भी रहते थे। वे ही विवाहादि के अवसरों पर आये थे।

स्मरण रखना चाहिए कि श्रीराम जी के लिये जो बार बार नरवेष, मनुज अवतार और लीलातनु आदि शब्द आते हैं उनका तात्पर्य केवल इतना ही है कि जैसे मनुष्य बाल्यावस्था में हँसने, रोने, तृषित बुभुक्षित होने, रूठने, तूठने आदि का व्यापार करता है, पौगंडावस्था में खेलने-विद्याध्ययन करने आदि का कार्य सम्पादन करता है, युवावस्था में विवाहादि करके गृहस्थ धर्म आदि के युक्त स्ववर्णाश्रम धर्म का क्रमशः पालन करते हुये जीवन यात्रा पूर्ण करता है, उसी तरह भगवान भी अपने—

'जस काछिय तस चाहिय नाँचा।'

सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य चेष्टा दिखाकर स्वभक्तों को सुख देते हैं। श्री गोस्वामी जी ने जगह जगह इन चेष्टाओं का सफल वर्णन किया है। यथा—

'बाल चरित हरि बहु विधि कीन्हा।
अति अनन्द दासन कहँ दीन्हा॥'

'आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं।'

'चितइ मातु लागी अति भूँखा।'

'स्तन पान लागि सोइ रोवा।'

'भागि चलत किलकात मुख दधि ओदन लपटाइ।'

'गुरु गृह गये पढ़न रघुराई।'

'खेलहिं खेल सकल नृपलीला।'

'भाइन सहित बिआहि घर आये रघुकुल चन्द।'

'आयसु माँगि करहिं पुर काजा।'

'मनुज चरित कर अज अविनासी।'

'उमा करत रघुपति नरलीला ।'

इत्यादि । यही सब ब्रह्म का मनुष्यत्व है, कुछ द्विभुजत्वादि नहीं कहा जा सकता क्योंकि ब्रह्म का तो त्रिपाद्विभूतिस्थ पर स्वरूप द्विभुज रूप ही श्रुति स्मृति प्रतिपादित है ।

ब्रह्म का चतुर्थस्वरूप अन्तर्यामी है। उस अन्तर्यामी परमात्मा की स्थिति अमूर्त मूर्त भेद से दो तरह की बतलाई गई है। एक तो यह कि—

जब तूं बिपति जाल जहँ घेरो ।
श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो ॥

विनय पत्रिका ॥

इसी से कहा जाता है कि—

स्वर्ग नर्के प्रदेशेऽपि बन्धुरामाऽस्य केशवः ।

अर्थात् जीव अपने शुभाशुभ कर्मानुसार जिस समय स्वर्ग नर्क आदि के सुख एवं दुःखादिकों का अनुभव करता रहता है उस समय में भी सुहृद्भाव से श्रीहरि का जो स्वरूप हृदय प्रदेश में स्थित रहता है उसी स्वरूप को अन्तर्यामी स्वरूप कहा जाता है। नरकादि में भी भगवान अपनी परम कृपालुतावश जीव के साथ साथ रहते हैं। परन्तु तो भी जीव जो—

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी ।
सकल जीव जग दीन दुखारी ॥

दुखारी रहता है उसका कारण यह है कि परमात्मा हृदय प्रदेश में केवल साक्षी मात्र होकर रहता है जैसा कि श्रुति उद्घोषित करती है कि—

'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥'

परन्तु जिस तरह अग्नि पास रहने से अग्नि को स्पर्श न करने पर भी उसकी उष्णता का अनुभव और जल के पास रहने से जल स्पर्श न करने पर भी उसकी शीतलता का अनुभव स्वतः कुछ अंश में प्राप्त होता ही रहता है इसी तरह परमात्मा के हृदय प्रदेश में स्थित रहने मात्र से ही जीव को किञ्चित आनन्द प्राप्त होता ही रहता है क्योंकि भगवान् तो—

जो आनन्द सिंधु सुखरासी।
सीकरते त्रैलोक्य सुपासी॥

इसी कारण यह जीव महान से भी महान् कष्टों के सहन करने में समर्थ हो सकता है और तभी अर्थात् अमृत स्वरूप परमात्मा के साथ रहने से ही यह जीव अत्युग्र कष्टों में भी सुख और सन्तोष की एकाध स्वाँस प्राप्त कर लिया करता है। इसीलिये भगवती श्रुति कहती हैं कि—

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो,
यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं,
यः सर्वाणि भूताभ्यन्तरो यमयत्येष स अन्तर्याम्यमृतः॥
बृ० उ० ३।७।१५॥

अर्थ—जो सब चराचर में रहता है (परन्तु) सबसे अलग है, जिसको सम्पूर्ण चराचर में कोई भी (अच्छी तरह) नहीं जानता, सर्व चराचर जिसका शरीर है, जो सर्व चराचर में रहकर सबको अपने शासन में रखता है और जो अमृत है, वही आत्मा परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है।

श्री भगवान् ने भी कहा है कि मैं सब के हृदय में रहता हूँ। यथा—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः गी० १५। १५।

अन्य श्रुतियों में भी ऐसा ही कहा गया है कि—

एषदेवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः॥

श्वे० उ० ४। १७॥

अर्थ—यह दिव्य क्रीडन शील सृष्टि कर्ता (परमात्मा) सततकाल सब जनों के हृदय में सन्निविष्ट रहता है।

सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ जातान्याभ्यां,
भुवनानि द्विसप्त स्थितान्येव।
एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ ऐषोन्तर्याम्येष,
योनिः सर्वस्य प्रभावाप्ययौ॥

रा० ता० उ० पूर्वार्ध॥

अर्थ—इस सब को सीता-राम मय जानना चाहिये। इन्ही सीताराम से ये चौदह भुवन उत्पन्न और स्थित हैं। ये सर्वेश्वर हैं, ये सर्वज्ञ हैं, ये सर्वान्तर्यामी हैं और ये सब के उत्पत्ति और प्रलय के कारण हैं।

रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु च।

ब्रह्म सम्पूर्ण जड़ एवं चैतन्य भूतों में रमण करता हैं (इसी से वह राम कहाता है)।

रामचरितमानस में भी यही सब कहा गया है कि—

राम ब्रह्म व्यापक जगजाना।
सीय राममय सब जग जानी।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।
अन्तर्यामी राम सिय०॥ इत्यादि

काष्ठ में अप्रगट अग्निवत् जो सर्वत्र व्यापक स्वरूप रहता है उसे अमूर्त अन्तर्यामी कहते हैं और जो भगवत्स्वरूप

भक्तों के ध्यान में आता है, भक्तों की रक्षा के लिये हृदय प्रदेश में किसी विग्रह विशेष से स्थिति रहकर भक्त रक्षण करता रहता है वह स्वरूप मूर्त अन्तर्यामी कहाता है जैसे—

अन्तस्थः सर्व भूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः।
स्वमाययाऽऽवृणोद् गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥

भाग० १। ८। १४॥

अर्थ—जब अश्वात्थामाने ब्रह्मशिरास्त्र का प्रहार उत्तरा के गर्भ पर किया जिससे कि वह गर्भ जलने लगा तब सर्वान्तर्यामि योगेश्वर श्रीहरि ने अपनी कृपा से (माया दंभे कृपायांच) उत्तरा के गर्भ को सुरक्षित कर लिया जिससे कि कौरव वंश नष्ट न हो। श्री भगवान ने उस समय मूर्त अन्तर्यामी रूप से उत्तरा के गर्भ की रक्षा किया था। उस स्वरूप का वर्णन श्रीमद्भागवत् में स्पष्ट रूप से दिया गया है कि—

भाग १। २१

मातुर्गर्भगतोवीरः सतदा भृगुनन्दन।
ददर्श पुरुष कंचिद् दह्यमानोस्त्रतेजसा ॥७॥
अंगुष्ठ मात्रममलं स्फुरत्पुरट मौलिनम्।
अपीच्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम् ॥८॥
श्रीमद्दीर्घ चतुर्बाहुं तप्त कांचन् कुण्डलम्।
क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतो दिशम् ॥
परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयंतं गदां मुहुः ॥९॥
अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः।
विधमन्तं सन्निकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ ।।१०॥

विधूय तदमेयात्मा भगवान् धर्मगुब् विभुः।
मिषतो दशमासस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥११॥

अर्थ--(सूत बोले) हे भृगुनन्दन शौनक! माता के गर्भ में जब वह बालक ब्रह्मास्त्र के तेज से जलने लगा तो उस वीर ने किसी एक ऐसे पुरुष को देखा कि जो अंगुष्ठमात्र का ही है परन्तु अत्यन्त निर्मल है और मस्तक पर सुन्दर कनक किरीट शोभित हो रहा है, अति प्रिय दर्शन, सर्वाङ्ग श्याम सुन्दर, बिजली के समान कान्तिवाला वस्त्र पहिने, कभी किसी तरह च्युत न होने वाला, परम कांतिमान् आजानुलंबित चतुर्बाहुयुक्त, सुन्दर स्वर्ण कुण्डलधारी लाल लाल नेत्र किये गदा लिये है और अपने (बालक के) चारों तरफ उल्कावत् प्रकाशित गदा को बारंबार घुमा रहा है ॥६॥ जिस तरह सूर्य अपनी किरणों से कुहरे को नष्ट कर डालते हैं उसी तरह वह श्याम सुन्दर पुरुष अपनी गदा से उस ब्रह्मास्त्र के तेज को नष्ट कर रहा है। इस प्रकार अपने पास में उसे देखकर बालक विचारने लगा कि यह कौन है। इसी तरह उस ब्रह्मास्त्र के तेज को नष्ट करके अद्वितीय तेजस्वी सर्वैश्वर्यशाली, धर्म रक्षक और सर्वसामर्थ्यवान् श्रीहरि दश महिने तक रह कर उस बालक के देखते देखते वहीं अंतर्धान होगये ॥११॥

इसी तरह मूर्त अन्तर्यामी अपने भक्तों की भावनानुसार उनके हृदय में रहते हैं। इसीलिये मनुष्य को चाहिये कि हृदय में सदैव मूर्त अन्तर्यामी को बसाये रहे। कहा गया है कि—

पठतु सकलवेदं शास्त्रपारंगतोवा,
यमनियम परोवा धर्मशास्त्रार्थ कृद्वा।

अटतु सकल तीर्थं व्राजको वाहिताग्निर्नाहि,
हृदि यदि रामो सर्वमेतद् वृथा स्यात् ॥

अर्थ--सांगोपांग सम्पूर्ण वेद पढ़ले, सर्वशास्त्रों का मथन कर डाले, यमनियमादि अष्टाङ्ग योग साधन में तत्पर हो, धर्मशास्त्रों की व्याख्या करने वाला हो, समपूर्ण तीर्थों के भ्रमण करने वाला हो और विरक्त हो किंवा सविधि यज्ञ करने वाला हो किन्तु यदि हृदय में श्री राम रूप का ध्यान न हो तो यह सब व्यर्थ है।

श्री गोस्वामी जी ने भी कवितावली में कहा कि—

काम से रूप प्रताप दिनेश से सोम से शील गणेश से माने।
हरिचन्द्र से साँचे बड़े विधि से मघवासे महीप विषै सुख साने।
शुक से मुनि शारद से वकता चिरजीवन लोमश से अधिकाने।
ऐसो भयो तो कहा तुलसी जुपै राजीव लोचन राम न जाने ॥
~ —उत्तर काण्ड ॥

और भी स्पष्ट कहा है कि—
मन में न बस्यो अस बालक जो तुलसी जग में फल कौन जिये।
क० बाल० ॥

कारण कि भगवद् ध्यानातिरिक्त अन्य किसी भी साधन संसृति बन्धन से किसी तरह भी छुटकारा नहीं मिल सकता है। किसी ने क्या ही अच्छा कहा कि—

मीनः स्नानरतः फणी पवन भुक मेषस्तु पर्णाशनो,
नीराशी खलु चातको प्रति दिनं शेते बिले मूषकः।
भस्माद्धूसर संयुतः खलु खरो घूकोहि नक्तव्रती,
इत्येते नहि यान्ति मोक्षपदवीं श्री रामध्यानं बिना ॥'

अर्थ—श्री हरि का ध्यान न करके कोई केवल स्नानादिकों के ही करने से कोई मोक्षपदवी को नहीं प्राप्त कर सकता। देखिये कि मछली हरदम स्नान ही करती है, सर्प वायु भक्षण करके जीवन ही बिता देते हैं। चातक जल की ही आशा करता है, बकरा भेड़ा पत्ता ही खाकर रहते हैं, चूहा प्रति दिन गुफा (बिल) में ही सोया करता है, गदहा भस्म (विभूति, खाक) से ही हर दम धूसरित रहता है और घूक (उल्लू) नक्त (रात्रि का ही) व्रत रखता है। परन्तु श्री राम जी का ध्यान न करने से वे सब मोक्षपद को नहीं प्राप्त कर सकते।

और जिसके हृदय में भगवद् ध्यान बना रहता है उसे सर्वत्र भगवान् की ही झांकी हुआ करती है वह तो—

निज प्रभुमय देखहिं जगत।

इस संसार की किसी भी वस्तु से उसे किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती, कारण इसको श्रुति इस तरह कहती है कि—

परस्माद्वै भयं भवति।

दूसरे से भय होता है।

दैत्य राज हिरण्यकशिपु प्रचंड अग्नि में प्रह्लाद् को छोड़कर कहने लगा कि बेटा अब भी हमारे शत्रु का नाम लेना छोड़ दो तो इस प्रचंड अग्नि से तुम्हारी रक्षा कर लूँ। श्री प्रह्लाद् जी ने कहा कि—

राम नाम जपतां कुतो भयं सर्व ताप शमनैक भैषजम्।
पश्यतात मम गात्र सन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥

अर्थः—सम्पूर्ण दैविक एवं भौतिकादि तापों को सर्वथा शमन निर्मूल कर देने वाले एकमात्र औषधि स्वरूप श्री राम नाम के जप करने से मेरे लिये भय कैसा!? हे पितः! मेरे

शरीर के पास आकर देखिये तो इस समय अग्नि भी जल के समान शीतल हो रहा है। दैत्यर्षि प्रह्लाद् की बात सुनकर उसने दूसरी बार उनका मुख बन्द करके अग्नि में छोड़ दिया और मशीन से अग्नि को खूब प्रज्वलित किया तिस पर भी जब उन्हें आँच नहीं लगी तो अग्नि के शान्त हो जाने पर उनका मुख खोल कर पूछा कि अब की बार तो तुम उसका नाम नहीं ले सकते थे फिर क्यों नहीं जले ? तो आपने उत्तर दिया कि हे पिता ! अपने हृदय में स्थित श्री हरि का मंगलमय विग्रह ही मैं सर्वत्र देखता हूँ इसी से कोई वस्तु मुझे भय देने वाली नहीं है। प्रह्लाद् के वाक्य ये हैं—

'तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि
नमां दहत्यत्र समं ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि
शीतानि सर्वाणि दिशोमुखानि ॥'

सूखे गीले सभी काष्ठ में अग्नि समान रूप से वर्तमान रहता है परन्तु प्रगट उसी जगह से और तभी होता है जहाँ का जलांश सूख जाता है। और दूसरे सूखे काष्ठ से मथित किया जाता है या उसी काष्ठ के किसी अवयव का संघर्ष हो जाता है जैसे जङ्गल में बाँस। परन्तु जब किसी ऐसे काष्ठ का सम्पर्क करा दिया जाता है जिसमें कि अग्नि प्रगट हो चुकी होती है तब उस शुष्क काष्ठ में सुगमता से पावक प्रगट हो जाता है। इसी प्रकार से हरि सर्वत्र व्याप्त हैं परन्तु जब तक जीव का हृदय विषय रसार्द्र रहता है तब तक तो अन्तर्यामी भगवान् के प्रगट होने की आशा करना गगन कुसुम प्राप्त करने की आशा के ही समान् है। हाँ भगवत् कृपा से यदि भगवत्प्राप्त महात्माओं अथवा अनेक विषय रस से रूखे किन्तु राम स्नेह से पगे जनों

का जब सत्संग (संघर्ष) प्राप्त हो जाता है किंवा वेणु की तरह जब अपने ही अवयव का संघर्ष होने लगता है अर्थात् हृदय में भगवत्प्रेम की जब अधिक बाढ़ उठती है तब हृदय स्वयं उन्मथित होने लगता है तब अर्थात् इन्हीं उपरोक्त अवस्थाओं के संयोग होने पर अन्तर्यामी का प्राकट्य होता है। इसी से श्री गोस्वामी जी ने दोहावली में लिखा है कि—

'जे जन रूखे विषय रस चिकने राम सनेह।
तुलसी ते प्रिय राम कहँ कानन बसहि कि गेह॥'

यहाँ चिकने राम स्नेह से यह समझना चाहिये कि काष्ठ जैसे जल से भी आर्द्र हो जाता है और घृत तैल आदि से भी आर्द्र हो जाता है परन्तु जब तक जल की आर्द्रता सर्वथा चली नहीं जाती तब तक वह काष्ठ किसी तरह नहीं जल सकता और घृत तैलाक्त काष्ठ शीघ्र ही अपितु तीव्रता के साथ जलने लगता है; इसी तरह जब तक विषयाभिलाषा हृदय से सर्वथा दूर नहीं हो जाती तब तक अन्तर्यामी भगवान् का प्रादुर्भाव नहीं होता, और जब भगवत्प्रेमरूपी घृत से हृदय पग जाता है तब भगवान् के प्रगट होने में किंचित् भी विलम्ब नहीं लगता। इसी से कहा गया है कि—

'हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥

श्री गोस्वामी जी ने दोहावली में भी यही कहा है कि—

बिगरी जन्म अनेक की सुधरै अबहीं आज।

शंका

'ईश्वर अंश जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥

'सो तैं ताहि तोहिं नहिं भेदा।
'सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा॥'

इत्यादि कथनों से तो स्पष्ट है कि जीव ही परमात्मा है तब पुनः दूसरे किसी को अन्तर्यामी की कल्पना करने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान

'अंशस्तु भाग अंशके' कोष के अनुसार जीव ईश्वर का टुकड़ा नहीं है अपितु ईश्वर की वस्तु-ईश्वर का वेषभूत है। और शरीर-शरीरी भाव को ले कर ही अभेदत्वादि की भावना कही गई है। इसका स्पष्टीकरण विद्वान लोग ऐसा करते हैं कि जीव और ब्रह्म दोनों चेतन हैं, किन्तु जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है तथा ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान। ईश्वर एक है और जीव अनन्त हैं। ईश्वर सूर्य-प्रकाश के समान सर्वव्यापक हैं और जीव दीपज्योति के समान सङ्कुचित है। जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश और दीपक की ज्योति एक स्थान पर रह सकते हैं, उसी प्रकार जीव और ईश्वर भी एक ही अन्तःकरण में रह सकते हैं।

'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्योऽभिचाकशीति॥

श्वे० उ० ४।६॥
ऋग्वेद १।१६४।२॥
अथर्व० ६।६।२॥

तथा जैसे दीवारों से घिरे हुये घर में सूर्य प्रकाश की सत्ता रहने पर भी प्रधानता दीपक के प्रकाश की ही रहती है, किन्तु दीवार गिरा दी जायँ तो दीप प्रकाश बना रहने पर भी

सूर्य प्रकाश में लीन के समान हो जाता है, उसी प्रकार जब तक अज्ञान वश देहादिका अभिमान बना हुआ है तब तक अन्तःकरण में अन्तर्यामी रूप से भगवान की सत्ता रहते हुये भी स्वात्मशेषित्व की ही प्रधानता रहती है, किन्तु जब ज्ञानोदय होने पर देहाभिमान गलित हो जाता है, तब स्वात्मशेषित्व भाव भी भगवच्छेषित्व भाव में विलीन हो जाता है। जो व्यक्ति इस तरह वैदिक तत्व को समझेगा वह हृदय में स्थित जीवेतर अन्तर्यामी (ब्रह्म) के तत्व को समझ लेगा और फिर ब्रह्म के अन्तर्यामित्व तत्व को कल्पना न कह सकेगा।

ब्रह्म का पाँचवाँ रूप अर्चावतार है। पूज्यपाद श्री गोस्वामी जी महाराज ने भगवान के अनन्य रूपों की तरह अर्चावतार (मूर्तिपूजा) का भी वर्णन सूत्र रूप से किया है। श्रीरामचरितमानस से अधिक विनय पत्रिका में है। श्री गोस्वामीजी का वर्णन यद्यपि संक्षिप्त रूप से ही है परन्तु है सुस्पष्ट। प्रसंग वश उसी को मैं किंचित् विस्तार से लिखने की चेष्टा करता हूँ।

कुछ भगवन्मायाभिभूत भाई कहते हैं कि मूर्ति पूजा को कलियुग में जैनियों से चली है। सत्य, त्रेता और द्वापर इन तीनों युगों में नहीं थी। मूर्ति पूजा वेदों और स्मृतियों में नहीं है इत्यादि। एतदर्थ मैं पहिले सत्ययुगादि अन्य तीन युगों में भगवन्मूर्ति पूजा का प्रमाण देकर तब वेदों और स्मृतियों का कुछ प्रमाण दूँगा तत्पश्चात् अर्चावतार के भेदोपभेदों का भी वर्णन करूँगा।

श्री अयोध्या जी के चक्रवर्ती नरेश महाभागवत् राजर्षि अंबरीषजी सत्ययुग में थे। वे श्री हरि के अर्चावतार की पूजा करते थे। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ६ अध्याय ४ में लिखा है कि

करौ हरेर्मन्दिर मार्जनादिषु श्रुतौ
चकाराच्युतसत्कथोदयम् ॥१८॥
दृशौ मुकुन्दालय दर्शने दृशौ
.... ।
घ्राणं च तत्पाद सरोज सौरभे
श्रीमत्तुलस्यरसनां तदर्पितम् ॥१९॥
पादौ हरेः क्षेत्र पदानुसर्पणे
शिरौ हृषीकेश पदाभिवन्दने ॥२०॥

अर्थः—महाराज श्री अंबरीष का भगवत्सेवानुराग इतना बढ़ा चढ़ा था कि वे चक्रवर्ती होते हुये भी अपने हाथ भगवन्मन्दिर के मार्जनादि में लगे रहते थे अर्थात् वे अपने हाथ से श्री हरि के मन्दिर में झाड़ू लगाते थे, लीपते (चौका-लगाते) थे और कान से भगवच्चरित्र का श्रवण करते थे ॥१८॥ नेत्रों से भगवन्मन्दिर, शिखर और मन्दिर में विराज मान अर्चावतार भगवान् के दर्शन करते थे। अर्चावतार भगवान के श्री चरणों पर चढ़े हुये पुष्पों की सुगन्ध का अवघ्राण नासिका से करते थे। श्री अर्चावतार भगवान के चरणों में अर्पित तुलसी का आस्वादन रसना से करते थे ॥१९॥ चरणों से श्री हरि के क्षेत्र (मन्दिर) में गमन करते थे और मस्तक से मन्दिर में विराजमान अर्चावतार प्रभु को प्रणाम करते थे ॥२०॥

आपकी समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ श्री भगवद-र्चावतार की सेवा में ही लगी रहती थीं। भक्तमाल में आपकी कथा विस्तृत रूप से संगृहीत हैं। आपकी मूर्तिपूजा और मन्त्र निष्ठा आदिका वृहद् वर्णन हारीत स्मृति में भी है।

त्रेतायुग का तो श्री रामचरित्र ही है। उस समय कीमूर्ति-पूजा का वर्णन महर्षि बाल्मीकि जी ने अपने आदि काव्य में जगह जगह किया है। देखिये अयोध्या कांड सर्ग २०

प्रभाते चाकरोत्पूजां विष्णोपुत्र हितैषिणी ॥१४॥

अर्थः - पुत्र वत्सला महारानी श्री कौशल्या जी ने पुत्र की मंगल कामना से प्रातः काल इक्ष्वाकुवंश के इष्टदेव भगवान् विष्णु की पूजा की ॥१४॥

दध्यक्षत घृतं चैव मोदकान्हविषस्तथा ॥१७॥
लाजान्माल्यानि खुल्कानि पायसं कृसरं तथा।
समिधः पूर्णकुम्भाश्च ददर्श रघुनन्दनः ॥१६॥

अर्थः—दही, अक्षत, घी, अनेक तरह के लड्डू, खीर धान का लावा, श्वेत रंग की मालायें, हलुआ, लकड़ी आदि हवन की सामग्री और भरा हुआ कलश रामजी ने माता कौशल्या के पास देव पूजा के लिये मन्दिर में देखा। आरण्य कांड में लिखा है कि महर्षि अगस्त्य के आश्रम पर अनेकों ऋषि रहते थे, सबों ने अपने-अपने पूज्यदेव के मन्दिर अलग अलग निर्माण किये थे। उन्हें श्री लक्ष्मण और जानकी जी के सहित श्री रामजी ने देखा। यथा आ० कांड सर्ग १२—

सतत्र ब्रह्मणः स्थानं अग्नेः स्थानं तथैव च ॥१७॥
विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैवः विवस्वतः।
सोमस्थानं भगस्थानं स्थानं कौवेरमेव च ॥१८॥
धातुर्विधातु स्थानं च वायोः स्थानं तथैव च।
स्थानं पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥१६॥

स्थानं चैव गायत्र्या वसूनां स्थानमेव च।
स्थानं नागराजस्य गरुड़ स्थानमेव च ॥२०॥
कार्तिकेयस्य चस्थानं धर्मस्थानं च पश्यति ॥२१॥

अर्थः—श्री राम जी वहाँ (अगस्त्य जी के आश्रम मंडल पर) ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, भगदेवता, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, पाशधारी यम, महात्मा वरुण, गायत्री, अष्टवसु, नागराज अनन्त, गरुड़, कार्तिकेय और सौम्यरूप धर्म के स्थान (मन्दिर) अलग-अलग देखे ॥

श्री गोस्वामी जी ने भी लिखा है कि—

निज कुल इष्टदेव भगवाना।
पूजा हेत कीन्ह असनाना॥
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा॥
ठौर ठौर देवन के मन्दिर।

इत्यादि। द्वापर में—

अन्वाक्रमत्पुण्य चिकीर्षयोर्व्यां
त्रिसृष्टितो यानि सहस्र मूर्तिः॥
भाग० ३।१।१७॥

अन्यानि चेह द्विजदेव देवै कृतानि
नानाऽऽयतनानि विष्णोः॥
प्रत्यङ्ग मुख्याङ्कित
मन्दिराणि यद् दर्शनात् कृष्ण मनुस्मरन्ति
॥२३॥

अर्थः—पुण्य की इच्छा से विदुर ने श्रीहरि के उन उन क्षेत्रों में पर्यटन किया जिसमें कि भगवान् अपनी हजारों मूर्तियों

(अर्चाविग्रहरूप) से स्थित हैं ॥ १७ ॥ और जो पृथ्वी पर देव निर्मित किंवा ऋषि निर्मित भगवत मन्दिर हैं जिनके शिखरों पर भगवदायुध शार्ङ्ग धनुष सुदर्शन चक्र आदि और सुवर्ण कलश सुशोभित हैं। उन मन्दिरों में जा जाकर विदुर ने श्रीहरि के दर्शन किये। जिन मन्दिरों के शिखरों पर स्थित भगवदायुधों के दर्शन मात्र से ही समस्तपाप दूर हो जाते हैं। जब जब मन्दिरों के दर्शन मात्र दूर से ही होते है तब तब भगवान् श्री कृष्ण का स्मरण होने लगता है ॥ २३ ॥

ये तो संक्षेप में युगों के प्रमाण हुये अब संक्षेप में ही वेदों और स्मृतियों के प्रमाण दिये जाते हैं जैसे—

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्तेस्तनयित्नवे ।
नमस्ते अस्त्वश्मने येनादूडा से अस्यसि ॥

अथर्व वेद ॥ १ । ३ । १ ॥

अर्थ--हे परमात्मन् मैं आप के उस बिजुली जैसे रूप को अर्थात् विद्युतवत् परम प्रकाशात्मक तेजो रूप ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ। मैं आपके उस गर्जन रूप से व्यापक ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ। मैं आपके उस पाषाण रूप अर्थात् पाषाण विग्रह में स्थित आपके अर्चा विग्रह को प्रणाम करता हूँ कि 'येनादूडा' जिस पत्थर से चोट लगती है

देवतायतनानि कम्पन्ते दैव प्रतिमा
हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति-
स्फुटन्ति स्विद्यन्ति उन्मीलन्ति
निमीलन्ति प्रतियन्ति ॥

सामवेद बा० १८ । प्र० २६ । खं० ५ । मं० १० ॥

अर्थ—देवता के मन्दिर अकस्मात् (अकारण ही) काँपने लगे तो, देवता की प्रतिमा अकारण ही हँसे, रोवे, नाचे, विदीर्ण हो जायँ, उनसे पसीना-निकलने लगे, वे नेत्र खोलने, बन्द करने लगें, चलने लगे इत्यादि (जागृत में प्रत्यक्ष अथवा स्वप्न में देखें तो महान् अनिष्ट होता है।)

मानस में भी कहा है कि—

'पतिमा स्रवहिं नयनमग वारी।'

'सर्वे भूमेरजायत' ॥

अथर्व० का० १३।४।३५॥

अर्थ—वह अर्चावतार भूमि से ही प्रगट होता है।

'योऽर्चयेत्प्रतिमां मां वै स मे प्रियतरो भुवि ॥

गोपालोत्तरतापिनी ३॥

अर्थ—श्री भगवान कहते हैं कि पृथ्वी पर जो कोई मेरी प्रतिमा (अर्चावतार) की पूजा करता है वह मुझे अत्यन्त प्रिय होता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।

योऽसावादित्ये पुरुषः ०॥

यजुर्वेद ॥ ४० ॥ १७॥

अर्थ—जो यह आदित्य* मध्यवर्ती पुरुष है उस

---

*सूर्य मण्डल मध्यस्थं रामं सीता समन्वितम्॥

सनत्कुमार सं०॥

ध्येयः सदा सवितृ मंडल मध्यवर्ती।,

भ० पु०॥

विष्णुः सत्यलोके च पद्मादः सूर्य मंडले॥

वैष्णव मताब्ज भास्कर ॥८१ ३॥

(सच्चिदानन्द घन) परमात्मा का मुख (दिव्य विग्रह) हिरण्मय (सोने के) पात्र से पिहित (गुप्त-छिपा) है।

प्रतिमा कैसी हो यह वेद ही बताता है—

आदित्य गर्भं पयसा समङ्ग्धि
सहस्रस्य निर्मितां विश्व रूपम्।
परि वङ्धि हरहा माभि संस्थाः
शतायुषं कृणु हि चीयमानः॥

यजु० १३।४१॥

अर्थ--(सहस्रस्य ब्रह्माणः) परमात्मा की सुवर्णादि धातु से निमित और विधिपूर्वक शोधित प्रतिमा जो कि सूर्य के समान कान्ति वाली संसार गर्भ के समान विश्वरूप है तथा अग्नि में रखकर जिसका मल दूर किया गया है, गौ के दूध में जिसे शुद्ध किया गया है। प्राण प्रतिष्ठा की गयी है जिसकी ऐसी (प्रतिमा) का कभी निरादर नहीं करना चाहिये। क्योंकि विधिपूर्वक शोधित और स्थापित भगवत्प्रतिमा मनुष्य को सैकड़ों वर्षों की आयु व ऐश्वर्य प्रदान करती है।

स्वयं परमात्मा ने कहा है कि—

अश्मा च मे मृतिका चमे गिरयश्च मे
पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतीव॥
मे हिरण्यं चमे अयाव चमे
लोहं चमे शीशाव मे त्रपुच मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

यजुर्वेद॥ १८। १३॥

अर्थ—भगवान का कहना है कि----पाषाण की, मृत्तिका की, पर्वत की, पर्वत खंड की, बालू की, चन्दन तुलसी आदि वनस्पतियों की, सोने की, अयः, श्यामः (श्यामं ताम्रं लोहं

कास्यम् रजतं कनकं वा लोहं कालाय से सर्व तेजसे जोऽङ्कके ऽपिच इति----महीधर भाष्य) चाँदी की, ताँबा की, काँसा की, लोहे की, शीशे की और राँगे आदि की प्रतिमा में मेरे (परमात्मा के) स्वरूप भी भावना (प्रतिष्ठा) करे और इन प्रतिमाओं का मेरा (परमात्माका) स्वरूप समझकर पूजन करे।

प्रतिमा की प्रतिष्ठा के समय प्रतिमा में परमात्माका आवाहन करने के लिये वेद का निम्न मन्त्र बहुत प्रसिद्ध है—

'एह्यश्मान मातिष्ठाश्मानवतुते तनूः।
कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥

अथर्व० २।१३।४।

अर्थ—हे परब्रह्म परमात्मन् ! इस पाषाण विग्रह में आकर अपने दिव्य विग्रह से स्थित हूजिये। यह पाषाणप्रतिमा आपका दिव्य शरीर हो जाय। जब देवता आपकी इस पाषाण मूर्ति में स्थिति के लिये प्रार्थना कर सैंकड़ों वर्षों तक आपकी स्थिति करायें।

गणानां त्वा गणपतिँ हवामहे
प्रियाणाँ त्वा प्रियपतिँ हवामहे
निधिनां त्वा निधिपतिँ हवामहे वसोमम।
आहमजानिगर्भम् त्वमजासि गर्भम् ॥

यजु० २३ १९॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप चराचर गणों (जीवमात्र के) स्वामी हैं हम आपका आवाहन करते हैं। ऐहिकामुष्मिक जितनी भी प्रिय वस्तुयें हैं उनके भी प्रिय पति आप हैं हम आपका आवाहन करते हैं। चल अचल जितनी भी निधियाँ (सुखप्रद संपत्तियाँ) हैं उन सब के निधिपति (दाता) आप

हैं हम आपका आवाहन करते हैं। आप हमारे इष्टदेव हैं आप गर्भ धारण कराने वाले अर्थात् प्रेरणा कराने वाले हैं (उरप्रेरक रघुवंश विभूषण) आप ही हम सब को गुप्तरूप से पराक्रम देनेवाले हैं। (अतः हम आपका आवाहन कर रहे हैं)

इस मन्त्र का भाव मानस के निम्न दोहे के पूर्वार्ध में सुस्पष्टरूप से कहा गया है—

प्राण प्राण के जीव के जिव सुख के सुख राम।'

ये प्रमाण तो प्रतिष्ठा किये जाने वाले दैव सैद्ध और मानुष आदि अर्चा विग्रह के सम्बन्ध में हैं। अब स्वयं व्यक्त अर्चावतार के लिये भी कई प्रमाण दे दिये जाते हैं।

भगवान् श्री शालिग्राम् जी के लिये यजुर्वेद का वाक्य है—

हिरण्य गर्भः समवर्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

यजु० १३।४॥

अर्थ—हिरण्य अर्थात् सुवर्ण जिसके भीतर हो वह हिरण्यगर्भ कहा जाता है और प्रायः सभी जानते हैं कि शालिग्राम में सुवर्ण होता है अतः हिरण्य गर्भ श्री शालिग्राम जी का नाम है। मन्त्र का अर्थ यह है कि—जो परमात्मा जाय मान इन सारे प्राणियों की सृष्टि से पहिले वर्तमान था जो सब का एकमात्र निरंकुश स्वामी है, जो पृथ्वी अन्तरिक्ष (सारे ब्राह्मण्ड) में व्याप्त है वही परब्रह्म परमात्मा जीवों पर महती कृपा करके श्री शालिग्राम रूप से अवतरित हुआ है अतः उस हिरण्य गर्भ शालिग्राम परमात्मा की हविष्य से पूजा करो अर्थात् खीर का नैवेद्य अर्पण करो।

श्री शालिग्राम जी की पूजा में प्राण प्रतिष्ठा आदि का

बखेड़ा नहीं रहता कारण कि वे स्वयं व्यक्त हैं श्री गोस्वामी जी ने दोहावली में भी लिखा है कि—

सठ सहि साँसति पति लहत सुगन कलेस न काय।
गढ़ि गुढ़ि पाहन पूजियहि गंडकि सिला सुभाय॥

श्री जगन्नाथ जी के लिये ऋग्वेद की आज्ञा है कि—

'अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदारभस्व दुहणो तेनगच्छ परस्तरम्॥

ऋबौ८।१३।१०।१२।१५५॥

अर्थ—[विप्रकृष्ट]=(अत्यन्त उत्तम रमणीक) देश में वर्तमान, [अपूरुषम्]=किसी पुरुष के द्वारा निर्माण नहीं किये गये अर्थात् स्वयं व्यक्त जो दारुमय काष्ठ विग्रह में स्थित पुरुषोत्तम शरीर समुद्र के तट में वर्तमान है उस दिव्य विग्रह का पूजन दर्शन उपासनादि करो। जो कभी किसी से हनन नहीं होता है उस दारुदेव जगन्नाथ जी का दर्शन पूजन आदि करने से सर्व श्रेष्ठ वैष्णवलोक प्राप्त होता है।

स्मृति—

'पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम्॥'

मनु ४।५२॥

देवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान्।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु॥५३॥

अर्थ—दो पहर के पहिले ही देवता की पूजा कर लेनी चाहिये॥५२॥

यदि नित्य न होसके तो पर्व पर्व पर अर्थात् अमावस्या, पूर्णमा, एकादशी, संक्रान्ति और किसी त्यौहार आदि पुण्य तिथियों पर ही देवताओं के मन्दिर में, धर्मात्मा पुरुषों के

पास, हरिभक्तों के पास, सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणों के पास और ईश्वर के पास अर्थात् भगवान् के अर्चाविग्रह के पास जाया अवश्य करे। इससे बराबर रक्षा होती है।

शालिग्राम शिलायां तु पूजनं परमात्मनः।
कोटि कोटि गुणाधिक्यं भवेदत्र न संशयः।

हारीत स्मृ०

अर्थ--शालिग्राम शिला में परमात्मा का पूजन करना अन्य पूजनों से कोटि (असंख्य) गुणा अधिक महत्वशाली (फलदायक) होता है, इसमें किसी तरह भी ननुनच करने का अवकाश नहीं है। यह निःसंदिग्ध है।

नित्यमभ्यर्चयेद्विष्णुं पुराणं पुरुषोत्तमम्।
अप्सुव्योम्नि तथाऽर्चायां वह्नौहृदि तथागुरौ॥

पराशरीय धर्मशास्त्र उत्तर सं० ५। १॥

'त्रिकालमर्चयेद्देवं मतिमान् सुविशेषतः' ॥ २॥
'प्रतिमास्वर्चयेद्देवम्' ॥ ३॥

अथ-पुराण पुरुषोत्तम भगवान श्री विष्णु का पूजन नित्य करना चाहिये चाहे जैसे भी बन पड़े अर्थात् जल में, आकाश में, अर्चा विग्रह (मूर्ति) में, अग्नि में, अपने हृदय में तथा गुरु में भगवान का अर्चन करना चाहिये॥ १॥

प्रत्येक व्यक्ति को अत्यन्त प्रीति पूर्वक भगवान का पूजन करना चाहिये॥ २॥

प्रतिमा (अर्चाविग्रह-मूर्ति) में देवाधिदेव श्री हरि का पूजन अवश्य करना चाहिये॥ ३॥

इस प्रकार वेदों और स्मृतियों से मूर्ति परक-प्रमाणों का किंचिद् दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है। वेदों और स्मृति

इतिहासों पुराणों में ऐसे सहस्रों प्रमाण अर्चाविग्रह (मूर्ति) पूजन पर हैं। यदि उनका संक्षिप्त संग्रह भी करने लगें तो एक बड़ा भारी स्वतन्त्र पोथा ही तैयार हो जाय।

स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार श्री हरि की प्रतिमा के पूजन का प्रमाण वेदों और स्मृतियों में है इसी प्रकार श्री शिव, शक्ति और सूर्यादि के मूर्ति पूजन के लिये भी बहुत से श्रौत स्मार्त प्रमाण हैं।

कुछ लोग भगवान के अन्य विग्रहों (दैव, सैद्ध और मानुष आदि) की पूजा के विषय में तो नहीं किन्तु स्वयं व्यक्त भगवान् शालिग्राम जी की पूजा के विषय में स्त्रियों का सर्वथा अनधिकार बतलाते हैं। अतएव स्त्रियों के शालिग्राम पूजन विषयिक अधिकारानधिकार पर भी कुछ विचार कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा। जिस श्लोक के बल पर स्त्रियों को शालिग्राम पूजन का अधिकार नहीं दिया जाता वह यह है—

ब्रह्मक्षत्रिय वैश्यानां शूद्रादीनामथापिना।
शालग्रामेऽधिकारोऽस्ति न चान्येषां कदाचन॥

स्कन्द पुराण॥

अर्थ - शालिग्राम के पूजन में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनका ही अधिकार है अन्यों का अर्थात् स्त्रियों का नहीं।

परन्तु यह कोई नहीं देखता कि जहाँ एक निषेध वाक्य है वहाँ अनेक वाक्य यह बताने वाले भी मिलते हैं कि स्त्रियों का भी शालिग्राम भगवान् के पूजन में उतना ही अधिकार है जितना कि पुरुषों का। श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में पूजन भक्ति का एक अंग बतलाया गया है और भक्ति का अधिकार सब को है--

धर्मोऽयं सार्व वर्णिकः।

साक्षात श्री भगवान् ने ही अत्यन्त सुस्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपियान्ति परांगतिम् ॥

अर्थ—हे अर्जुन! स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र और पाप योनियाँ (चांडालादि) जो कोई भी हों मेरी भक्ति कर वे भी परमगति को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य यह कि भगवद्भक्ति करने के लिये लिंग (चिन्ह) जाति, वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय आदि की उच्चता निम्नता का वा देश कालादि का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। भगवद्भक्ति में सबको समान रूप से अधिकार है, वह चाहे स्त्री, शूद्र, वैश्य, चांडाल, डोम, भंगी, पासी कोई ही हो—

भक्तिवन्त अति नीचौ प्रानी।
मोहिं परम प्रिय असि मम बानी ॥

इस श्री मुख की वाणी के अनुसार भगवतशरण में आने वाले भक्तों को भगवान वही परमोत्तम पद प्रदान करते हैं जो बड़े बड़े ज्ञानी ध्यानी महात्माओं को भी दुर्लभ है। प्रतिबन्ध है तो एकमात्र भगवद्भक्ति का। जिसमें आचरण की उत्तमता और पवित्रता विद्यमान है उसे भगवान की सर्वोत्तम गति पाने से कोई नहीं वंचित रखसकता। भला भगवान शालिग्राम के पूजन से वंचित रखने वाला कौन होगा? पुराणों में जहाँ निषेध है वहीं यह भी लिखा है कि—

अतिपापसमाचाराः कर्मण्येनाधिकारिता।
शालग्रामार्चका येवै नैव यान्ति यमालयम् ॥

अर्थ--कोई कितना बड़ा पापी ही क्यों न हो किन्तु यदि वह शालिग्राम का पूजन करने वाला है तो नरक में कभी नहीं जा सकता। (स्वर्ग में भी न जाकर) वह तो सीधा वहाँ चला जायगा जहाँ के लिये श्रुति कहती है कि--

'नच पुनरावर्तते नच पुनरावर्तते।'

अर्थात् भगवद्धाम को। और जहाँ यह लिखा है वहाँ ही स्त्रियों के नाम स्पष्टरूप से शिला चक्र पूजन का भी अधिकार बतलाया गया है। देखिये—

स्त्रियोवा यदि वा शूद्रा ब्राह्मणः क्षत्रियादयः।
पूजयित्वा शिलाचक्रं लभन्ते शाश्वतं पदम्॥

स्क० पु०॥

अर्थ—स्त्री ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यादि कोई भी जो शिलाचक्र का पूजन करते हैं वे परम धाम को प्राप्त करते हैं।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि क्या निषेधात्मक वाक्य पुराणों, स्मृतियों वा धर्म शास्त्रों के मिथ्या हैं? इसके समाधान में कुछ लोगों का कहना है कि--

पुराणमित्येव न साधुसर्वं
नचापि काव्यं नवमित्यवद्यम्
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढ़ परः पस्यत्यमेय बुद्धिः॥

अर्थ—यह धारणा मूर्खों की है कि 'प्राचीन होने से पुराण सर्वथा निर्दोष हैं, जो कुछ वे कहैं आँख मूँद मानते जावो और जो नवीन हैं, वे काव्य होने से सर्वथा दोष पूर्ण हैं अतः काव्यों की कोई भी बात न माननी चाहिये।' वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। यथार्थ तो यह है कि 'न तो सब पुराण ही सर्वथा-

निर्दोष हैं और न सब काव्य ही सर्वथा सदोष होते हैं।'
इसलिये सज्जन अच्छी तरह परीक्षा करके—

'यत्सारभूतं तदुपासनीयम।'

न्याय से जो सर्व कल्याणात्मक सिद्धान्त होता है उसी को स्वीकार करते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि निषेध वाक्य तो एकाध ही हैं और विहित वाक्य अनेक हैं अतः विहित ही माननीय हैं। भक्तमाल आदि सद्-ग्रन्थों से तो स्पष्ट ही है कि सिल बट्टों की पूजा करने वाली स्त्रियों पर भगवान प्रसन्न होकर कृपा करते हैं जिनका यह उद्घोष ही है कि—

'यः शास्त्रविधि मुत्सृज्य वर्तते काम कारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्॥'

गीता ॥१६।२३॥

अर्थ—जो पुरुष शास्त्र विहित कर्मों को छोड़ अपने इच्छानुसार शास्त्र वर्जित कर्म करता है वह न तो किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सकता है, न ऐहिक सुख और न परम गति (मोक्ष) ही प्राप्त करता है।

गोस्वामी श्री गोपाल भट्ट जी ने इन निषेधात्मक वाक्यों को उचित मानकर समाधान इस तरह किया कि—

'अतो निषेधकं यद् यद् वचनं श्रूयते स्फुटम्।
अवैष्णवत्व परं तत्तद् विज्ञेयं तत्वदर्शिभिः॥'

श्री हरि भक्ति विलास ५ वि० २२३ श्लोक॥

अर्थ—जो जहाँ जहाँ निषेध वाक्य हैं वह निषेध सब के लिये नहीं है जो जीविका के लिये या लोगोंको दिखाने के लिए ढोंग से शालग्राम का पूजन करना चाहें उनके लिये है। जो भगवद्भक्त हैं प्रेम भक्ति से पूजन करना चाहें उनके लिये मने

नहीं हैं। वैष्णव (भगवद्भक्त) स्त्री पुरुष कोई भी हो शालग्राम का पूजन कर सकते हैं।

सर्व सम्मति से निश्चित है कि शालग्राम पूजन एवं-भगवद्भक्ति करने का प्राणिमात्र को अधिकार है।

शास्त्रों में अर्चावतार के चार भेद बतलाये गये हैं—

स्वयंव्यक्त श्चदैवश्च सैद्धो मानुष एव च।
देशाद्धौ हि प्रशस्ते स वर्तमानश्चतुर्विधिः ॥'

तत्वत्रय भाष्य ॥

अर्थः—स्वयंव्यक्त=जो भगवद्विग्रह अपने आप प्रगट हो गये हों, किसी के निमित न हों वे 'स्वयं व्यक्त' नाम से कहे जाते हैं। भगवान् के स्वयं व्यक्त विग्रह भी अनेक हैं जैसे श्री शालग्राम जी, श्री रङ्गजी, श्री बाला जी, अयोध्या जी में श्री कनक भवन-विहारी जी, त्रेता के ठाकुर जी, श्री तपस्वी जी के राम लला जी, श्री वृन्दावन में श्री राधारामण जी, श्री गोविंद जी, ओड़छा में रानी गणेश देवी के लिये प्रगट हुये श्री राम राजा जी, पंढ़र पुर क्षेत्र में भक्त पुंडरीक को वरदान देने के लिये प्रगट हुये विट्ठल भगवान आदि।

दैव=जो भगवद्विग्रह देवताओं द्वारा स्थापित किये जाते हैं वे दैव नाम से कहे जाते हैं जैसे श्री नरनारायण जी (बद्रिकाश्रम) श्री बेणी-माधव जी (प्रयाग)

'देव दनुज किन्नर नर श्रेनी।
सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी ॥
पूजहिं माधव पद जल जाता।'

सैद्ध=जो भगवद्विग्रह सिद्धों द्वारा स्थापित किये जाते हैं वे सैद्ध अर्चावतार कहाते हैं जैसे दक्षिण भारत में स्वामी श्री

रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित भगवान श्री कोदंड पाणि जी, रेवासा में श्रीस्वामी श्रीअग्रदेवाचार्य जी द्वारा स्थापित भगवान श्री जानकी बल्लभलाल जी, काशी में श्री गोस्वामी जी द्वारा स्थापित श्री संकट मोचन हनुमान जी इत्यादि।

मानुष=जो भगवदर्चा विग्रह मनुष्यों द्वारा स्थापित हों वे मानुष अर्चावतार कहे जाते हैं। इनके उदाहरण तो समस्त भारत में हैं। मानुष में दो भेद हैं, एक ग्रामार्चा, और दूसरे गृहार्चा,। जिन भावुक भगवद्भक्तों को स्वयं व्यक्त, दैव और सैद्ध आदि भगवद्विग्रहों के दर्शन पूजनादि का नित्य सौभाग्य प्राप्त न हो सके उन्हें चाहिये कि गाँवभर मिलकर भगवान् के अर्चावतार को अपने गाँव में पंचायती मन्दिर निर्माण करके सेवा पूजा का लाभ उठावें। ऐसे अर्चावतार ग्रामार्चा 'भगवान्' कहे जाते हैं और जो भगवान् भावुक अपने घर में भगवद्विग्रह स्थापित कर सपरिवार भगवान की सेवा पूजा का आनन्द लेते हैं-

पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।

वे भगवद्विग्रह गृहार्चा नाम से पुकारे जाते हैं।

पद्मपुराण में ग्रामार्चा से गृहार्चा को ही विशेष कहा है—

अथवा स्थापनं विष्णोः स्वगृहे तद्विशिष्यते।
मृच्छिला दारु लोहाद्यैः कृत्वा प्रतिकृतिं हरेः॥

अथवा अपने घर में हो, मृत्तिका, पाषाण, काष्ठ किंवा लौहादि धातुओं में से किसी एक द्रव्य की स्वअभिलषित श्रीहरि की प्रतिकृति (मूर्ति) स्थापित करे उन गृहार्चा भगवान् का पूजन ग्रामार्चा से विशेष है। कोई सज्जन 'तद्विशिष्यते' शब्द से यह भगवदपराध न कर बैठें कि 'ग्रहार्चा' भगवान्

से ग्रामार्चा भगवान् में न्यूनता है क्योंकि भगवान के किसी भी रूप में न्यूनता नहीं रहती। सभी भगवद्विग्रह----

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते'।

के अनुसार पूर्ण हैं। यहाँ केवल व्यक्तिगत भाव की विशेषता से ही विशेष कहा गया है अर्थात् 'ग्रामार्चा' से 'गृहार्चा' में साधकविशेष के लिये 'भाव' की विशेषता रहती है इसलिये 'तद्विशिष्यते' कहा गया।

भगवत्प्रतिमा आठ प्रकार के द्रव्यों में किस एक की भी हो सकती है।

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥

भाग० ११। २७। १२॥

अर्थ—[शैली]=पाषाण की [दारुमयी]=काष्ठ की [लौही]-लोह की—(लोह से सुवर्ण, चांदी, तांबा, और पीतल आदि धातु मात्र का ग्रहण किया गया है)। लेप्या]= मृत्तिका की [लेख्या]=दीवाल, कागज, वस्त्र, तख्ती आदि पर चित्रित की हुई अर्थात् चित्र वा तस्वीर [सैकती]=बालू की [मनोयमी]=मानसी—ध्यानात्मिका और [मणिमयी]= मणि-रत्न निर्मित यह आठ प्रकार की प्रतिमा (मूर्ति) होना शास्त्र सम्मत है। अथर्ववेदीय उपनिषद् श्रीरामतापिनी की श्रुति है कि—

'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना।'

अर्थ—जो ब्रह्म [चिन्मय]-सच्चिदानन्दघन [अद्वितीय]=समाधिक रहित [जाके सम अतिशय नहिं

कोई।) [निष्कल]=परिपूर्णतम [अशरीर]=प्राकृतिक पञ्च भौतिक शरीर रहित अर्थात दिव्य देह वाला 'चिदानन्द मय देह तुम्हारी' (रहित विकार) है वह ब्रह्म उपासकों के कार्य सम्पन्न करने के लिए उपासकों के भावनानुकूल रूप ग्रहण करता है। निरुक्ति का यास्कमुनि ने भी कहा है। —

'यद्यद्रूपं कामयते तत्तद् देवता भवति ।
रूपं रूपं मघवा को भवीति०

निरुक्ति अ० १० खं० १०॥

अर्थ —भक्तजन जो जो रूप चाहते हैं देवता (श्री हरि) वह रूप ही हो जाते हैं।

स्मरण रखना चाहिये कि भगवन्मूर्ति की प्रतिष्ठा के समय भगवान् के साथ श्री जी की और भगवदायुधों की भी प्रतिष्ठा होती है। यजुर्वेद में परमात्मा के आयुध और पत्नियों का स्पष्ट वर्णन है।—

'नमस्ते आयुध्याय ।'

यजुर्वेद १६ । १४॥

अर्थ—'आयुध' के लिये नमस्कार है।

श्रीश्चते लक्ष्मी श्चपत्न्यौ० '

यजु० ३१ । २२॥

अर्थ —आप परमात्मा की श्री और लक्ष्मी दो पत्नियाँ हैं।

श्री जी कभी भी भगवान से अलग नहीं रहती। मानस में स्वयं श्री जी ने ही कहा है कि—

प्रभु करुनामय परमविवेकी ।
तनुतजि रहत छाँह किमि छेकी ॥

आद्यार्ष काव्य बाल्मीकीय रामायण में भी श्री जी का ही कथन है कि —

'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभायथा ।'

अर्थ — मैं सी राघवेन्द्रजू से वैसे ही अलग नहीं रह सकती जैसे सूर्य से सूर्य की प्रभा अलग नहीं रहती ।

बाल्मीकीय रामायण में ही श्रीरामभद्रजू का भी कथन है —

'अनन्या च मयासीता चन्द्रश्चन्द्रिकया यथा ॥'

अर्थ — जिस तरह चन्द्रमा और चन्द्रमा की चन्द्रिका कभी अलग नहीं उसी तरह मेरा और सीता का साथ कभी नहीं छूटता है ।

दंडकवन में भी माया सीता का हरण हुआ था वास्तविक सीता के लिये ही श्लेष रूप से रामजी ने कहा था कि —

'मम मन सीता आश्रम नाहीं ॥'

अर्थात् सीता मेरे मन में है आश्रम में नहीं है । वैष्णावागम नारद पाँचरात्र में भी कहा है कि भगवान सब रूपों में श्री विशष्टि ही रहते हैं यथा —

नित्यै वैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी ।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम ।१॥
देवत्वे देव देहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी ।
विष्णोरेवानुरूपा वै करोत्येषात्म नातनुम् ॥२॥

अर्थ — हे द्विजोत्तम ! यह जगन्माता श्री जी परमात्मा की नित्यही अनपायिनी (अनन्या) हैं जैसे भगवान् सर्वगत हैं वैसे ही श्री जी भी, भगवान् जब देवरूप से अवतरित होते हैं तो श्री जी देवी रूप से, यथा क्षीराब्धि निवासी नारायण के साथ लक्ष्मी और जब भगवान् मनुष्य रूप से अवतरित होते हैं तो

श्री जी मानुषी रूप से जैसे दाशरथी राम के साथ सीता, वासुदेव कृष्ण के साथ राधा, रुक्मिणी आदि इसी तरह भगवान् के रूपानुरूप श्री जी भी अपना रूप धारण कर लेती हैं। भगवान् के अर्चावतार में श्री जी का भी अर्चावतार होता है अतएव भगवदर्चा विग्रह के साथ श्री जी की भी भगवद्रूपानुरूप प्रतिष्ठा करनी चाहिये अर्थात् नारायण के साथ लक्ष्मी रूप की और भगवान् राम और कृष्ण के साथ क्रमशः सीता जी और राधिका जी की प्रतिष्ठा करनी चाहिये।

श्री जी की प्रतिष्ठा भगवान के वामभाग में होनी चाहिये ऐसी शास्त्रकारों की आज्ञा है यथा—

आशीर्वादेऽभिषेके च पाद प्रक्षालने तथा।
शयने भोजने चैव पत्नीतूत्तरतो भवेत् ॥

अर्थ—आशीर्वाद, अभिषेक (प्रतिष्ठा), पाद प्रक्षालन, शयन और भोजन के समय स्त्री पति के वामभाग में विराजती है।

अर्चावतार भगवान् का भी मन्दिर में अभिषेक होता है, उनकी प्रतिष्ठा होती है वे आशीर्वाद देते हैं जिससे शरणागत जीव की सब कामनायें पूर्ण होती हैं। अर्चावतार का नित्य ही अर्चक द्वारा पादप्रक्षालन (अर्चना) होता है इसी तरह अर्चावतार के शयन और भोजन भी नित्य होते हैं। अतएव श्री जी की प्रतिष्ठा वामभाग में ही होना चाहिये। जहाँ-जहाँ मानस में श्री जी की चर्चा है वहाँ वहाँ वे वाम भाग में ही हैं। यथा—

आशीर्वाद में (मनु के)

'वाम भाग सोभित अनुकूला।
आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला ॥

अभिषेक में—

'राम वाम दिसि सोभित रमा रूप गुन खानि।

लंका विजय के पश्चात्—

सो राम वाम विभाग राजति रुचिर अति शोभा भली।

श्री गोस्वामी जी ने तो सदैव के लिये ही कहा है—

राम वामदिसि जानकी लखन दाहिनी ओर

ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर॥

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि भगवान शरणागत को अभयदान देने रूप यज्ञ के लिये ही अर्चावतार रूप से विराजते हैं अतएव श्रीजू को दाहिने ही पधराना चाहिये और स्मृतिसार का यह प्रमाण भी देते हैं—

व्रतबंधे विवाहेचचतुर्थ्यां सहभोजने।

व्रते दाने मखे होमे पत्नी तिष्ठति दक्षिणे॥

अर्थ—व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत) विवाह चतुर्थीव्रत दान-यज्ञ और होम में पत्नी दाहिने भाग में विराजती है। शास्त्र-कारों का यह कथन 'मैथुनी सृष्टि' से उत्पन्न हुये मनुष्यों के ही विविध संस्कारों के लिये है, 'चिदानन्दमय' नरतनुधारी भग-वान् के अर्चावतार विग्रहों के लिये नहीं। अतएव अर्चावतार में श्री जी को वाम भाग में ही प्रतिष्ठित करना चाहिये।

परव्यूह विभव में जितने गुण हैं वे सब गुण अर्चावतार में भी परिपूर्ण हैं यथा—

'सर्वातिशय षाड्गुण्यं संस्थितं मंत्र बिंबयोः।

मंत्रो वाच्यात्मनानित्यं बिंबेतु कृपया स्थितम्॥

॥ ना० पा० ॥

अर्थ --भगवान् के ज्ञान शक्ति आदि षड्गुण तथा अन्य जितने भी गुण हैं वे सब भगवान् के मंत्र राज (षडक्षरतारक ब्रह्म और अर्चावतार में विशेष रूप से प्रस्फुटित होते हैं भेद केवल इतना ही है कि मन्त्र में वाच्यात्मना गुण हैं अर्थात मन्त्र जपने से ही भगवद् गुणों का अनुभव जापक को होता है और बिम्ब अर्थात् प्रतिमा [अर्चावतार] में सभी गुण 'कृपया' स्थित हैं अर्थात् अपने अर्चावतार में भगवान् ही स्वयं कृपा करके अपने गुणों का अनुभव शरणागतों को करा देते हैं।

मन्त्रजप और मूर्तिपूजन में भगवद् गुणों का अधिक और शीघ्र प्राकट्य होता है इसीलिए मानस में गोस्वामी जी ने कहा है—

मन्त्रराज नित जपहिं तुम्हारा।
पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा॥

मन्त्रजप और मूर्ति पूजा दोनों को एक ही अर्धाली में रखा और—

तब 'तरपन होम करहिं बिधिनाना।
बिप्र जेंवाई देंहि बहुदाना।'

और 'तुमते अधिक गुरुहिं जिय जानी।
सकल भाव सेवहिं सनमानी॥'

का वर्णन अंग रूप से किया है।

उपासना का क्रमः—

नारद पांचरात्र की पौष्कर संहिता, सुदर्शन संहिता, बृहद् ब्रह्म संहिता और विष्वक्सेन संहिता आदि में उपासना का क्रम बतलाया गया है। उपासक पहिले अर्चावतार की उपासना का

अधिकारी होता है और तब क्रमशः विभव की उपासना का, व्यूह को उपासना का और परस्वरूप की उपासना का। निदान अन्तर्यामी का मूर्त रूप से प्रत्यक्ष आविर्भाव होता है यथा—

उपासकानुरोधेन भजते मूर्ति पंचकम्
तदर्चा विभव व्यूह सूक्ष्मान्तर्यामिसंज्ञकम् ॥१॥
यदाश्रित्यैव चिद्वर्गस्तत्तज्ज्ञेयं प्रपद्यते ॥१॥
पूर्व पूर्वो दितोपास्ति विशेष क्षीण कल्मषः ॥२॥
उत्तरोत्तर मूर्तीनामुपास्याधिकृतो भवेत् ॥३॥

अर्थ—उपासकों की भावना से प्रेरित होकर भगवान् भक्तों के समक्ष पांच रूप से आविर्भूत होते हैं उनकी संज्ञा अर्चा, विभव, व्यूह, पर और अन्तर्यामी हैं। पूर्व पूर्व क्रम से उपासना करते करते उत्तरोत्तर ज्यों ज्यों पाप क्षीण होते जाते हैं त्यों त्यों साधक अधिकारी बनता है। और भी नारद पांच रात्र में कहा है—

वासुदेवः स्वभक्तेषु वात्सल्यात्तत्तदीहितम्।
अधिकार्यानुगुण्येन प्रयच्छति फलं बहु ॥१॥
तदर्थं लीलया स्वीयाः पंचमूर्तीः करोतिवै।
प्रतिमादिकमर्चा स्यादवतारास्तु वैभवाः ॥२।
संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः।
व्यूहश्च विविधोज्ञेयः सूक्ष्म सम्पूर्णषड्गुणम् ॥ ३ ॥
अन्तर्यामी जीवसंस्थो जीव प्रेरक ईश्वरः।
यः'अन्तर्यामीति' वेदान्तवाक्य जालैर्निरूपितः ॥४॥

अर्चोपासनया चिप्ते क्षल्मषे ऽधिकृतो भवेत् ।
विभवोपासने पश्चाद् व्यूहोपास्यो ततः परम् ॥५॥
सूक्ष्मे तदनुशक्तः स्यादन्तर्यामिर्यामीक्षितुम् ॥६॥

अर्चावतार की प्रतिष्ठा भक्त अपनी रुचि के अनुकूल कर सकता है, परन्तु शौनक के कथनानुसार—

सुरूपां प्रतिमां विष्णोः प्रसन्नवदनेक्षणाम् ।
कृत्वात्मनः प्रीति करीं सुवर्णरजतादिभिः ॥१॥
तामर्चयेत तांप्रणत्तांपूजयेत्तां विचिन्तयेत् ।
विशत्यपास्तदोषस्तु तामेव ब्रह्म रूपिणीम ॥२॥

अर्थात् भगवान् की प्रतिमा सोने चाँदी आदि किसी की हो परन्तु सर्वाङ्ग सुन्दर प्रसन्न मुख विकसित नेत्र और हृदयानन्द कर हो। भगवत्प्रतिमा भगवद्रूप ही होती है अतएव भगवत्प्रतिमा को पूजने प्रणाम करने और इनका ध्यान करने से जीव सर्व दोष और पाप से रहित हो कर भगवत्स्वरूप में मिल जाता और सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है।

अपनी महती कृपा के कारण पर, व्यूह, विभव और अन्तर्यामी स्वरूप से अर्चावतार भगवान् अपने स्व-स्वामिभाव के विपरीत भक्त की पूजा भी स्वीकार करते हैं। भक्त (अर्चक) के अधीन होकर रहते हैं। नारद पांचरात्र की विष्वक्सेन संहिता में स्वयं भगवान् ही अपने श्री मुख से स्वीकार करते हैं कि—

अर्चावतारस्सर्वेषां बान्धवो भक्तवत्सलः ।
स्वत्वमात्मनि संजातं स्वामित्व ब्रह्मणि स्थितम् ॥

अर्थात् अर्चावतार सब जीव मात्र के बांधव अर्थात आपत्ति काल में सहायक हैं। अर्चक की भावना यद्यपि यही रहती है कि मैं श्रीहरि का दास हूँ और भगवान हमारे स्वामी हैं, अपनी अहेतुकी कृपा से प्रभु हमारे यहाँ अर्चावतार रूप से विराजमान हैं तो भी--

'ममायं वामनो नाम नारसिंहाकृतिः प्रभुः।
वाराहवेषो भगवान् नरोनारायणस्तथा ॥२॥
तथा कृष्णश्च रामश्च ममायमिति निर्दिशेत्।
मद्ग्रामवासी भगवान् ममेतिचसुधीर्भवेत्ः ॥३॥
चिन्तयेश्च जगन्नाथं स्वामिनं परमार्थतः।
अशक्तं मे स्वतन्त्र चाद्दयं चापि जनार्दनम् ॥४॥'

भक्त की ऐसी भावना होती रहती है कि ये हमारे वामन भगवान् हैं, ये हमारे नृसिंह भगवान् हैं, ये हमारे नर नारायण हैं, ये हमारे कृष्ण भगवान् हैं, ये हमारे रामजी हैं। ये हमारे मन्दिर, हमारे गाँव, हमारे घर में विराजमान हैं। यद्यपि वह परमार्थ रूपेण अर्चावतार भगवान् को जगत् का और अपना स्वामी ही जानता है तो भी विग्रहरूप से कहीं जाने आने में अशक्त हैं, मेरे अधीन हैं अतएव मेरी रक्षा में हैं।

तदिच्छया महातेजा भुंक्ते वैभक्तवत्सलः।
स्नानपानं तथा यात्रां कुरुते वै जगत्पतिः ॥५॥
स्वतंत्रःसन् जगन्नाथोऽप्यस्वतन्त्र यथाभवेत्।
सर्व शक्तिर्जगद्धाताप्यशक्तइव चेष्टते ॥६॥

सर्वान्कामान्ददत्स्वाम्यप्यशक्त इव लक्ष्यते ।
अपराधानभिज्ञःसन् सदैव कुरुते दयाम् ॥७॥
अर्चावतार विषये मयाप्युद्देशतस्तथा ।
उक्ता गुणान्न शक्यन्ते वक्तुं वर्ष शतैरपि ॥८॥
ऋते च मत्प्रसादाद्वा स्वतो ज्ञानागमेनवा ॥९॥

अर्थ—अर्चावतार काल में जगत्पति भगवान् अपनी भक्तवत्सलता के कारण भक्त के लिये भोजन, स्नान पान तथा यात्रा आदि करते हैं। उस समय भगवान् सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होते हुये भी अशक्तवत् चेष्टा करते हुये देख पड़ते हैं विग्रह रूपसे अस्वतन्त्र के समान बने सर्व शक्तिमान् होकर भी रहते हैं, भगवान् सर्व जगत् के स्वामी हैं। और अर्चक की सम्पूर्ण कामनाओं को स्वयं पूर्ण करते हैं तो भी अशक्त के समान ही प्रतीत होते हैं। भक्तों के अपराधों को जानते हुये भी उनपर सदैव दया ही करते हैं।

अर्चावतार के गुणों को मैंने संक्षेप में कहा है। कोई सैकड़ों वर्षों तक भी कहकर अर्चावतार के गुणों का पार नहीं पासकता। मेरे अर्चावतार में जीवों का प्रेम मेरी कृपा अथवा धर्मभूत ज्ञान का पूर्ण विकास हुये बिना नहीं होता। श्री गोस्वामी जी ने भी लिखा है—

देखि दोष कबहुँ न उर आने।

मानस ॥

साहेब होत सरोष सेवक कर अपराध सुनि।
अपने देखे दोष राम न कबहूँ उर धरे॥

दोहावली ॥

सरल प्रकृति आपु जानिये करुना निधान की।
निजगुन अरि कृत अनहितौ दास दोष ॥
सुरति चित रहति न दिये दान की।
बानि बिसारन सील है मानद अमान की ॥

विनय पत्रिका ॥

एवं पञ्चप्रकारोऽहमात्मना पततामधः ।
पूर्वस्मादपि पूर्वस्माज्ज्यायांश्चैवोत्तरोत्तरः ॥१॥

इस प्रकार मैं पर, व्यूहादि अपने पञ्चस्वरूपों में स्थित रहता हुआ संसार प्रवाह में पड़े हुये जीवों पर पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुलभता और कृपा करता हूँ।

सौलभ्यतो जगत्स्वामी सुलभो ह्युत्तरोत्तर ॥

अर्थात्—जगत्स्वामी भगवान् की परस्वरूप, व्यूह से विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार में उत्तरोत्तर अधिक सुलभता है।

आज समय के प्रभाव से अर्चावतार पर अनेक अनर्गल आक्षेप किये जाते हैं और इसका मुख्य कारण यह है कि धर्मशास्त्रों के उचित ज्ञान, पठन पाठन वा अध्ययन आदि के अभाव में वैदिक मन्त्रों द्वारा प्रतिष्ठित अर्चावतार 'विग्रहों' का आश्रय इन दिनों विशेष कर 'मनोकामना सिद्धि' अथवा जीविका निर्वाह के लिये ही ग्रहण किया जाता है। अहैतुकी निष्काम भक्ति का इन दिनों पूर्ण 'अभाव' ही है।

यद्यपि भगवान के प्रत्येक स्वरूप में सम्पूर्ण दिव्यगुण सदैव परिपूर्ण रूप से ही विद्यमान हैं तो भी अर्चास्वरूप भगवान में चारगुण विशेष रूप से प्रस्फुटित होते हैं—

१—रुचिजनकत्व—दर्शक की रुचि अपनी ओर आकर्षित करना, वा भक्तके हृदय में दर्शन करने की रुचि उत्पन्न करना।

२--अशेषलोक शरण्यत्व—प्रपन्न शरणागत जीवों की सदैव रक्षा करते हुये उनके समस्त कष्टों का निवारण करना।

३--अनुभाव्यत्व—जो भक्त सर्व प्रकार से उपायोपेय-सब कुछ अर्चावतार भगवान को ही मान लेता है उसके आगन्तुक अवगुणों पर कभी ध्यान नहीं देना। यथा—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ ॥

मानस ॥

'अपने देखे दोष राम न कबहूँ उरधरे ॥

दोहावली ॥

४—सर्व सुलभत्व—इसके लिये संक्षेप में यह समझना चाहिये कि अर्चावतार की सुलभता जल के इस दृष्टान्त से स्पष्ट समझ में आजायेगी कि जैसे किसी प्यासे मनुष्य के लिये ब्रह्माण्ड के दूसरे आवरण में करोड़ों योजन लम्बाई चौड़ाई में विस्तृत रूप से स्थित जल काम नहीं आ सकता, किंवा त्रिपाद् एवं एक पाद् उभय विभूति को विभक्त करने वाली सीमाभूत क्षुधा पिपासा आदि के षडूर्मियों को सर्वथा नाश कर देने वाली एवं आनन्द आदि दिव्य गुणों से परिपूर्ण लक्षों योजन की चौड़ी अमृत पूर्ण विरजानदी का वह दिव्य जल उस प्यासे मनुष्य के काम नहीं आसकता क्योंकि वह जल तो तभी मिलता है जब कि यह पाँच भौतिक शरीर यहीं छोड़कर जीव त्रिपाद्विभूति में जाने लगता है तब रास्ते में मिलता है बीच में नहीं मिल सकता है। इसी तरह संसार में बद्ध चेतनों के लिये जो कि त्रिविध तापों से तपे हुये आनन्द रूपी जल को खोज रहे हैं उन्हें त्रिपाद्विभूति में स्थित भगवान् के परस्वरूप से क्या लाभ हो सकता है? क्योंकि वे परस्वरूप भगवान् तो बिना स्थूल सूक्ष्म और कारण तीनों प्राकृत शरीरों के त्यागे अर्थात् मुक्त

हुये बिना मिलने वाले नहीं ही हैं अतएव बद्धजीवों के लिये परस्वरूप भगवान सुलभ नहीं प्रत्युत विरजा जलवत् सर्वथा अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥१॥

जैसे पृथ्वी से थोड़ी ही दूर पर मेघ मण्डल में जल प्रचुर मात्रा में भरा है परन्तु वह जल प्यासे मनुष्य की कुछ भी सहायता नहीं करसकता है इसी तरह चार, बारह, छब्बीस आदि अनेकों व्यूह रूपसे स्थित भगवान् का वह (व्यूह) रूप यद्यपि कि इसी प्रकृति मण्डल अर्थात् एकपाद् विभूति में ही भिन्न भिन्न बैकुंठों में स्थित रहता है परन्तु बिना कठिन तपस्या आदि के बद्ध संसारी चेतनों की बांछापूर्ण करके इसी पांच भौतिक शरीर में ही प्राप्त होकर उसे आनन्दरूप जल नहीं दे सकते इस कारण भगवान् का व्यूह स्वरूप भी बद्ध जीवों के लिये सर्वथा सुलभ नहीं है ॥२॥

जैसे गङ्गा सरयू यमुना गोमती आदि छोटी बड़ी अनेक नदियों में जब बाढ़ आती है तो दूर दूर तक ऊँचे ऊँचे स्थानों में भी जल पहुँच जाता है परन्तु बाढ़ काल बीत जाने पर उन उच्च स्थलो पर जल नहीं रहता। यदि प्यासा आदमी बाढ़काल के अतिरिक्त काल में (बाढ़ हट जाने पर) उन उच्च स्थलों पर जाय तो प्यास शांत नहीं हो सकती उलटे परिश्रम विशेष होने से प्यास और बढ़कर मृत्यु तक की संभावना हो सकती है क्योंकि वहाँ तो बर्षाती बाढ़काल में ही जलमिल सकता है। उसी तरह भगवान् के विभव स्वरूप तो अवतार काल में ही उनके पास जाने वाले व्यक्ति को ही मिल सकते थे। अवतार के अन्तर्हित हो जाने पर तो भगवान् का वह स्वरूप भी बिना घोर तपस्या आदि कठिन साधनों के मिल ही नहीं सकता। इसलिये भगवान का अवतार (विभव) स्वरूप भी आपामर बद्ध चेतनों को सुलभ नहीं किन्तु दुरूह है ॥३॥

कोई आदमी प्यास के कारण बिना जल के छटपटाता हो उस समय उससे कोई कहने लगे कि भाई ! तुम जल क्यों खोजते हो। अरे ! भले आदमी तुम जहाँ खड़े हो वहाँ भी तो नीचे ही पृथ्वी में स्वच्छ जल के कितने ही स्रोत प्रवाहित हो रहे हैं। कूप या बावड़ी खोदकर निकाल कर पीलो। यह कहने वाला उस प्यासे मनुष्य का हितकारी नहीं हुआ प्रत्युत घातक हुआ क्योंकि यद्यपि कि पृथ्वी में सर्वत्र जल है परन्तु प्यास लगने पर जब तक कुआँ बावड़ी आदि खोदने अथवा यन्त्रादि से जल निकालने का प्रयास करेगा तब तक तो उस बेचारे का राम राम सत्य बोल जावेगा। श्री गोस्वामी जी ने भी विनयपत्रिका में लिखा है कि—

सर खनत हि जनम सिरान्यो।

इसी तरह भगवान्—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।

सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं और त्रिविधताप परिपीड़ित चेतनों के हृदय में भी मूर्तामूर्त रूप से स्थित हैं परन्तु उनकी प्राप्ति बड़ी ही कठिन है और किसी दर्शनेच्छुक या अर्थार्थी आर्त जिज्ञासु आदि से कोई कहे कि तुम क्यों—

'परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि,
बाहर फिरत विकल भयो धायो ॥

अपने हृदय में ही विराजमान ईश्वर को प्रत्यक्ष करके उनका दर्शन करो। तो उनके लिये अनेकों प्रकार के तप, जप, योग, यज्ञ, व्रत आदि क्रियायें करनी पड़ती हैं और किंचित् मात्र के प्रत्यवाय मात्र पड़ने से ही बहुत काल के सब किये कराये पर पानी फिरते किंचित भी देर नहीं लगती। इसी कारण से तो अन्तर्यामी के लिये कहा है कि—

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी॥

अतः भगवान् का अन्तर्यामी स्वरूप भी सम्पूर्ण बद्ध चेतनों के लिये सुलभ नहीं प्रत्युत परम कठिन है।४॥

और यदि किसी प्यासे मनुष्य को जैसे प्यास लगते ही विमल वारि परिपूर्ण कोई सुन्दर स्वच्छ तालाब मिल जाये तो वह बिना किसी लोटा डोर आदि साधनों के भी अपनी इच्छानुसार जल पी सकता है नहा धो सकता है अर्थात् वह तालाब उस प्यासे मनुष्य की जल सम्बन्धी सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण रूप से पूर्ण कर देता है इसी तरह घर में स्थित तालाबवत् अर्चावतार स्वरूप भगवान् सम्पूर्ण बद्ध चेतनों के लिये सर्वथा सुलभ हैं ॥५॥

कुछ लोग जो कि ईश्वर को भी ठगना चाहते हैं वे कहते हैं कि अर्चा मूर्ति तो अपने हाथ की बनाई हो होती है उससे या गंडकी नदी के उत्तम स्थान दामोदर कुंड से निकले हुये एक पत्थर विशेष जो कि शालग्राम नाम से प्रसिद्ध किया गया है उस मूर्ति पत्थर के पूजने से क्या हो सकेगा ? क्या उससे हृदय का अज्ञान नष्ट हो सकेगा ? और बिना अज्ञान नष्ट हुये क्या—

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

के अनुसार उनकी मुक्ति हो सकती है ? नहीं किसी प्रकार नहीं। इस प्रकार तर्क शील कुतर्कियों से मैं पूछ सकता हूँ कि किसी अँधेरी कोठरी में जो कि सब तरफ से बन्द हो उसमें किस प्रकार से प्रकाश प्राप्त करके कोई अपना कार्य साधन कर सकता है ? क्या सूर्य चन्द्रमा नक्षत्र और व्योम विद्युत आदि के प्रकाश से वहाँ काम चल सकता है ?

तो उन्हें कहना पड़ेगा कि नहीं, उस बन्द कोठरी में प्रकाश करने के लिये मनुष्यों के बनाये हुये दीपक या मनुष्यों में ही आविष्कार किये गैस बिजली या किसी खानि से निकले हुये कोई बहुमूल्य पत्थर (रत्न-मणि) आदि ही वहाँ ले जाने से उस अंधकार पूर्ण कोठरी में प्रकाश होगा और लोग अपना इच्छित व्यापार कर सकेंगे।

बस ठीक इसी तरह समझना चाहिये कि मनुष्यों को स्वहृदयान्धकार दूर करने के लिये अपने हाथ के बनाये हुये भगवान् के अर्चा विग्रह की सेवा अथवा गंडकी से उद्भूत शालग्राम परमात्मा की सेवा ही समुचित उपाय है। इसके अतिरिक्त नहीं। इसी से विनय पत्रिका में श्री गोस्वामी जी ने अर्चावतार भगवान् श्री बिन्दुमाधव जी की प्रपत्ति स्वीकर करते हुये अर्चावतार की सेवादर्शन आदि को ही मनुष्य शरीर धारण का परम फल और परम प्रशंसनीय साधन-साध्य कहा है यथा —

इहै परम फल परम बड़ाई ।
नख सिख रुचिर बिन्दु माधव छबि निरखहिं नयन अघाई ॥
॥६१॥

'मन इतनोई या तनु को परम फल।
'सब अंग सुभग बिन्दु माधव
छबि तजि सुभाव अवलोकु एक पल ॥'
'रूप शील गुण खानि बामदिशि
सिन्धुसुता रत पद सेवा ॥'

× × ×

तुलसी दास भवत्रास मिटै तब जब मन यहि स्वरूप अटकै।
नाहित दीन मलीन हीन सुख कोटि जनम भ्रमि भटकै।
॥६३॥

संक्षिप्त वेदान्त वृक्ष सं० १
परात्पर
चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्म श्रीरामजी
त्रिपाद् विभूति
विरज
विरजा
एक पाद् विभति
व्यूह
अवतार या विभव
अन्तर्यामी
अर्चावतार
वासुदेव (केशव, नारायण, माधव)
संकर्षण (गोविन्द, मधुसूदन, विष्णु)
अनिरुद्ध (वामन, श्रीधर, त्रिविक्रम)
प्रद्युम्न (हृषिकेष, पद्मनाभ, दामोदर)
मूर्त
अमूर्त
स्वयंव्यक्त श्रीशालिग्राम, श्रीरंगादि
दैव बेणीमाधव प्रयागादि
सैद्ध श्रीकनक भवन बिहारी
मानुष पन्नानृसिंह बालाजी आदि
ग्रामार्चा
गृहार्चा
साक्षात या मुख्य
गौण
मत्स्य, कूर्म, वाराह, संकर्षण, भरत लक्ष्मण शत्रुघ्न, रामानंदाचार्य-कल्कि आदि
आवेश
मुख्य श्रीनृसिंह वनादि
मुख्यतर श्रीकृष्ण
मुख्यतम श्रीराम
स्वरूपावेश
कलावेश पृथु,धन्वन्तरि आदि
शक्त्यावेश
शुद्धावेश व्यास कपिलादि
अशुद्धावेश परशुराम हयग्रीवादि
शुद्ध
अशुद्ध
मुख्य हंस दत्तात्रेयादि
गौण ऋषभदेव, बुद्धादि
मुख्य ब्रह्मा शिवादि
गौण ककुत्स्थ, मुचकुंद ,अग्नि मनु कुबेरादि

इस प्रकार संक्षेप से ईश्वर स्वरूप का वर्णन किया गया इसी को और स्पष्ट कर देने के लिये एक संक्षिप्त तालिका भी (वेदान्त वृत्त नाम से) दे दी जाती है।

'पर स्वरूप श्री राम जो एक अखंड अनूप।
जगहित कारण में सोइ व्यूह चतुर्विधि रूप॥
व्यूह चतुर्विधि रूप सोई हरि अन्तर्यामी।
भक्तनहित नित धरत विविधि अवतार सुस्वामी॥
चारिउ से अतिशय सुलभ हरि अर्चाऽवतार।
श्री मानस सिद्धान्त यह देखेउ 'राम कुमार॥'